शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

सितम्बर : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८८☆ अंक : ५

स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञान

आचार्यदेव को केवलज्ञान तो नहीं है किंतु केवलज्ञान का साधक ऐसा श्रुतज्ञान है। वे कहते हैं कि—हमारा यह अंतरोन्मुख श्रुतज्ञान भी केवलज्ञान जैसा ही है; केवलज्ञानी की भाँति वे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। ज्ञान अल्प होने पर भी उस श्रुतज्ञान को अंतरोन्मुख करके हम केवल आत्मा का अनुभव करते हैं, इसलिये हम भी 'केवली' हैं। केवल आत्मा का अनुभव करनेवाला यह ज्ञान ही केवलज्ञान का साधक है; इसलिये साध्य के साथ जो केलि कर रहा है, ऐसे स्वसंवेदन श्रुतज्ञान द्वारा अकेले आत्मा का अनुभव करते हुए हम निश्चल रहते हैं.... दूसरी आकांक्षा से बस होओ!

—इसप्रकार संतों ने केवलज्ञान के साथ श्रुतज्ञान की संधि की है।

[प्रवचनसार गाथा ३३ के प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२०८]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(नया प्रकाशन)

अपूर्व अवसर

श्री राजचन्द्रजी कृत एक महान अमर काव्य। इस पर पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन गुजराती भाषा में तीन बार छप चुके हैं। धर्म जिज्ञासुओं की उस रचना को पढ़ने की भारी माँग होने से उसका हिन्दी अनुवाद भी छपकर तैयार हो गया है। साथ में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा तथा लघु सामायिक पाठ भी है। पृष्ठ संख्या १५० सजिल्द, मूल्य लागत से भी कम, ८५ नये पैसे मात्र। पोस्टेज अलग।

जिसको शास्त्र ज्ञान में ज्यादा अच्छा अभ्यास नहीं है, उसको भी सरलता से अच्छा ज्ञान मिलेगा। २१००, बुक छपी थी। ११००, के प्रथम से ही ग्राहक थे। इच्छुक हों, वे शीघ्र मंगवा लेवें।

सन्मति संदेश विशेषांक

पूज्य परम उपकारी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की ७३ वीं जन्म जयंती पर दिल्ली से सन्मति संदेश कार्यालय की ओर से खास भक्तिवश और धर्म प्रभावना के लिये विशेषांक प्रगट किया है, जिसमें १०० पृष्ठ उपरान्त आर्ट पेपर ऊपर १८ सुन्दर चित्र, तीर्थक्षेत्र के चित्र तथा पू० गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा जो महान धर्म प्रभावना हो रही है, उसका वर्णन, विद्वानों द्वारा स्वामीजी का परिचय तथा संक्षेप में जीवन चरित्र, श्री कुन्दकुन्दाचार्य-पद्मनन्दीनाथ-विदेह क्षेत्र में गये थे, आकाशगमन शक्ति सम्पन्न ऋद्धिधारक थे उसके आधारभूत अनेक प्राचीन शिलालेख सहित ऐतिहासिक खोज पूर्ण सामग्री दर्शक लेख, आदि खास महत्वपूर्ण लेखों का संग्रह है। जो खास विद्वानों, कवियों और लेखकों के द्वारा लिखे हुये हैं, हरेक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है, मूल्य दो रुपया होने पर भी एक धर्म प्रेमी भाई द्वारा प्रचारार्थ एक रुपया में मिलेंगे, (पोस्टेज अलग)

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

सितम्बर : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ५

उपासक-संस्कार

(श्रावक के कर्तव्य का वर्णन)

लेख की भूमिका कथा के रूप में है

[वीर सं० २४८७ के भाद्रपद कृष्णा १३ से शुक्ला ४ के बीच श्री "पद्मनन्दि पंच विंशतिका" के छठवें अध्याय पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन; (जिनके साथ वीर सं० २४७६ में हुए इसी अधिकार के प्रवचनों का सार भी जोड़ दिया गया है।)]

यह 'पद्मनन्दि पंच विंशतिका' नामक शास्त्र है। सैंकड़ों वर्ष पहले वनवासी दिगम्बर संत श्री पद्मनन्दि मुनिराज ने इस शास्त्र की रचना की है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने इसे 'वनशास्त्र' कहा है और इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक वैराग्य से उसका अध्ययन करने का आग्रह किया है। उसमें 'उपासक-संस्कार' अथवा 'श्रावकाचार' नामक छट्ठा अध्याय है, जो इस समय पढ़ा जा रहा है। उपासक संस्कार अर्थात् गृहस्थदशा में स्थित सम्यग्दृष्टि श्रावक को धर्म के कैसे संस्कार होते हैं और शुभराग की भूमिका कैसी होती है, उसका इसमें वर्णन है। प्रारम्भ में मंगलाचरणरूप से व्रततीर्थ के प्रवर्तक श्री आदिनाथ जिनेन्द्र का तथा दानतीर्थ के प्रवर्तक श्री श्रेयांसराजा का स्मरण करके कहते हैं कि उनके सम्बन्ध में इस भरतक्षेत्र में धर्म की स्थिति हुई:—

आद्यो जिनो नृपःश्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ।
एतदन्योन्यसम्बन्धे धर्म स्थितिरभूदिह ॥१॥

इस भरतक्षेत्र में इस चौबीसी आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ और श्रेयांसराजा—यह दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्तन में आदि पुरुष हैं; उनके सम्बन्ध से ही इस भरतक्षेत्र में मुनिधर्म की और श्रावकधर्म की स्थिति हुई है। व्रततीर्थ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित

मुनिपना, वह इस चौबीसी में भरतक्षेत्र में असंख्य-अरबों वर्ष के अंतर से सर्व प्रथम श्री ऋषभनाथ भगवान ने धारण किया। इसलिये वे व्रततीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले आदिपुरुष हैं; और दानतीर्थ अर्थात् विधिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देना, वह श्रावक का एक मुख्य कर्तव्य है। श्री श्रेयांसराजा सर्व प्रथम आहारदान देकर इस चौबीसी में दानतीर्थ के प्रवर्तक आदि पुरुष हुए। वे दोनों चरमशरीरीरूप से इसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए। उनके द्वारा भरतक्षेत्र में धर्म की स्थिति हुई—ऐसा कहकर मंगलाचरण में उन महान पुरुषों का स्मरण किया है।

इस चौबीसी में इस भरतक्षेत्र में सर्व प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हुए। राजदरबार में नृत्य करती हुई नीलांजना नामक देवी की आयु पूर्ण होने से वहीं मृत्यु को प्राप्त हुई। इस क्षणभंगुरता को देखकर भगवान संसार से विरक्त हुए और बारह वैराग्य भावनाओं का चिंतवन करते हुए वैराग्य धारण करके मुनिदशा अंगीकार की; फिर छह मास तक आत्मा के ज्ञान-ध्यान में इतने लीन रहे कि आहार की वृत्ति ही न हुई। छह महीने बाद जब आहार की वृत्ति उठी, तब नगर पधारे। किन्तु उस समय लोगों को पता ही नहीं था मुनि को आहार किसप्रकार देना चाहिये। उन्हें यह भी ज्ञान नहीं था कि आदिनाथ मुनिराज नगर में किसलिये पधारे हैं। इसलिये कोई हीरे-मोती के थाल लेकर भेंट चढ़ाने आया, कोई वस्त्राभूषण देने लगा और कोई भोजन की थालियाँ ले आये! लेकिन आहारदान की विधि किसी को मालू न थी; इसलिये ऋषभदेव मुनिराज आहार की वृत्ति को तोड़कर वन में लौट जाते हैं और चैतन्य के ध्यान में लीन होते हैं। अहा, आहार मिले या न मिले, उसमें मुनियों को समताभाव है; वे तो चैतन्य की साधना के लिये निकले हैं। छह महीने से आधिक काल बीत गया, तथापि भगवान अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान का उपयोग नहीं लगाते; वे तो महान धीर-गंभीर हैं; ज्ञान के उपयोग को इधर-उधर नहीं घुमाते। "चलो न, आज वन में बैठे-बैठे ही अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर जान लूँ कि आज आहार का योग बनेगा या नहीं! इसलिये व्यर्थ ही नगर में न घूमना पड़े।"—ऐसी वृत्ति भगवान को नहीं उठती। देखो तो सही, यह दशा! साधारण लोगों को थोड़ा भी ज्ञान हो जाये तो उसे पचाना कठिन हो जाता है; और यहाँ तो भगवान को अवधि-मनःपर्ययज्ञान है; एक वर्ष से अधिक के उपवास हो चुके हैं, तथापि ज्ञान का उपयोग लगाने की वृत्ति नहीं उठती। अरे, हम तो अपना उपयोग चैतन्य के आनन्द में लगाये या बाहर! आहार न मिले तो खेद भी नहीं होता। दूसरे ही क्षण आहार की वृत्ति तोड़कर निर्विकल्प आनन्द का भोजन करते हैं; छट्ठे-सातवें गुणस्थान की दशा झूलते रहते हैं।

ऋषभदेव भगवान का जीव आठ भव पहले बज्रजंघ राजा था और श्रेयांसराजा का जीव उस समय उनकी रानी श्रीमती थी। वज्रजंघ और श्रीमती के जीवों ने उस काल एक सरोवर के किनारे दो मुनिवरों को (–जो उनके ही पुत्र थे।) अत्यन्त भक्ति से विधिपूर्वक आहारदान दिया था और तब से आठ भव तक साथ ही साथ रहे थे। भगवान ऋषभ मुनिराज जब हस्तिनापुर में श्रेयांसराजा के आँगन में पधारनेवाले थे, उसकी अगली रात्रि (वैशाख शुक्ला दोज) के पिछले पहर में श्रेयांसराजा की महामंगल सूचक स्वप्न आये कि—मेरे आँगन में कल्पवृक्ष फला है, देव आकर बाजे बजा रहे हैं.... इत्यादि। उन मंगल स्वप्नों का फल जानकर—कि आज हमारे आँगन में कोई महान पुरुष पधारनेवाला है—राजा को अपार हर्ष हुआ। उस समय जाते इक्षुरस (गन्ने का रस) के घड़े भर-भर कर लोग राजा के घर भेंट रख गये थे। थोड़ी ही देर बाद भगवान आदिनाथ मुनिराज चैतन्य की मस्ती में झूलते हुए वहाँ से निकले।

अहा! भगवान इसप्रकार चले आ रहे थे मानों चैतन्य का पर्वत ही चला आ रहा हो! मानों साक्षात् परमात्मा ही ऊपर से उतर आये हो! उन्हें देखते ही राजा श्रेयांस का रोम-रोम हर्ष एवं भक्ति से उल्लसित हो उठा और उसी समय जातिस्मरणज्ञान होने से पूर्वभव में दिये हुए मुनियों के आहारदान की विधि का स्मरण हो आया। फिर विधिपूर्वक भगवान का आहार के लिये पड़गाहन किया और परम हर्षपूर्वक भक्तिसहित इक्षुरस का आहारदान दिया। देवों ने भी "अहो दानं... अहो दानं" करके उनकी प्रशंसा की और पंच-आश्चर्य प्रगट हुए। भरत चक्रवर्ती ने भी वहाँ आकर श्रेयांसराजा का बहुमान किया। श्रेयांसकुमार को भी आनन्दोल्लास हुआ कि—अहो! इस चौबीसी में तीर्थंकर-मुनिराज को आहारदान का प्रथम सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ.... हमारे आँगन में साधकदशारूपी कल्पवृक्ष आया.... आज हमारा जीवन धन्य हुआ! इसप्रकार श्रेयांसराजा ने सम्यग्दर्शनसहित विधिपूर्वक आहारदान दिया और तभी से भरतक्षेत्र में दानतीर्थ प्रवर्तमान हुआ। श्रेयांसराजा इस चौबीसी में दानतीर्थ के प्रवर्तक बने और फिर भगवान के गणधर होकर उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया। अहा, आहारदान देने और लेनेवाले दोनों चरमशरीरी! असंख्य वर्षों के अंतर से भरतक्षेत्र में आहारदान का वह प्रसंग बना। तभी से चारित्रधर्म और दानधर्म के स्तंभ स्थापित हुए। इसप्रकार मुनिधर्म और श्रावकधर्म के स्तंभरूप महापुरुषों का स्मरण करके यह अधिकार प्रारम्भ करते हैं ॥१॥

धर्म का स्वरूप क्या है ? वह दूसरी गाथा में कहते हैं—

सम्यग्दग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तः पन्था स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह तीनों धर्म हैं और वही मुक्ति का पंथ है—ऐसा प्रमाण द्वारा निश्चित् है। देखो, यह धर्म का स्वरूप है। ऐसे धर्म के बिना मोक्षमार्ग अथवा तो मुनित्व या श्रावकत्व नहीं होता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पूर्णरूप से तो मुनिवरों को होता है और गृहस्थ-श्रावकों को सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित अंशतः चारित्ररूप एकदेश मोक्षमार्ग होता है। इसलिये ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि—व्यापार-धन्धे में पड़े हुए गृहस्थ को तो क्या धर्म होगा! सम्यग्दर्शन, वह मोक्षमार्ग का प्रधान अंग है और उसकी आराधना गृहस्थ को भी हो सकती है। सम्यग्दर्शन सहित गृहस्थ को भी धन्य और कृतार्थ कहा है।

धर्म का स्वरूप क्या है ? कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही धर्म का स्वरूप है और वही मुक्ति का पंथ है। यह बात भगवान तथा संतों के ज्ञान से निश्चित हुई है। मुनि को या श्रावक को जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उतना ही धर्म है, और जो राग है, वह धर्म नहीं है। इस अधिकार में श्रावक के दैनिक कार्यों के रूप में देव पूजा, गुरु सेवा, शास्त्र स्वाध्याय आदि शुभ का उपदेश आयेगा; वहाँ ऐसा नहीं समझना कि उस शुभराग से धर्म होता है; परन्तु आत्मा का भान होने के पश्चात् श्रावक को अपनी भूमिका में इस प्रकार के (देव-गुरु के बहुमानादि के) शुभभाव होते हैं, उसका ज्ञान कराने और अशुभ को छुड़वाने के लिए उसका उपदेश है, तथा उपचार से उसे श्रावक का धर्म भी कहा जाता है। किन्तु धर्मात्मा श्रावक को अंतर में बराबर विवेक वर्तता है कि—जितना राग है, उतनी अशुद्धता है, वह धर्म नहीं है; लेकिन उस समय सम्यग्दर्शनपूर्वक राग के अभाव से जितनी शुद्धता हुई है, उतना ही धर्म है। निज शुद्धात्मद्रव्य के अवलम्बन के बल द्वारा जितने अंश में परिणामों की शुद्धता होती है, उतना ही सत्यार्थ धर्म है।

शुभ का वर्णन आने से कोई उसे धर्म न मान ले; इसलिये आचार्यदेव ने प्रारम्भ में ही धर्म का मूलस्वरूप स्पष्ट किया है कि—निश्चय-वीतरागभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही धर्म है, तथा वही मुक्ति का पंथ है। सम्यग्दर्शनसहित अव्रती गृहस्थ को भी प्रशंसनीय कहा है और सम्यग्दर्शन के बिना द्रव्यलिंगी होकर चाहे जितना शुभचारित्र (पंच महाव्रतादि) पालन करे, तथापि उसे प्रशंसनीय नहीं कहा। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। मुनि का धर्म अथवा श्रावक का धर्म—कोई भी धर्म सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। यह निश्चय धर्म की और निश्चय

सम्यग्दर्शन की बात है। गृहस्थदशा में चौथे गुणस्थान में भी निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। श्रावककुल में या जैन सम्प्रदाय में जन्म लिया, इसलिये सम्यग्दृष्टि हो गये—ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन तो अचिंत्य वस्तु है; शरीर से तथा राग से पार शुद्धचिदानन्दवस्तु की अंतरप्रतीति करे, तब सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन में सिद्ध भगवान जैसे आनन्द का स्वाद आ जाता है। ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना अन्य सब जीव ने अनंत बार किया; पुण्य करके स्वर्ग का महान् देव अनंत बार हो आया किन्तु किंचित् धर्म नहीं हुआ और भव का अंत नहीं आया। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही धर्म और मोक्ष समझकर उसकी आराधना करो ॥२॥

* * *

अब, तीसरी गाथा में कहते हैं कि—जो जीव रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग को तो जानता नहीं है और शुभराग को ही धर्म या मोक्ष का साधन मानकर उसमें अटक जाता है, वह जीव संसार में ही परिभ्रमण करता है और मोक्ष उससे दूर रहता है—

रत्नत्रययात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेत्दीर्धत्तरो भवः ॥३॥

जो जीव सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते, वे कभी भी मोक्षपद को प्राप्त नहीं होते और उनको भवभ्रमणरूप संसार दीर्घतर होता है अर्थात् संसार का कभी अंत नहीं आता। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—यह तीनों वीतराग है; इन तीनों में स्वद्रव्य की ही अपेक्षा है और परद्रव्य की तथा राग की उपेक्षा है। मात्र स्वद्रव्य के अवलंबन से ही वे भाव प्रगट होते हैं। अहो, ऐसे रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में जो जीव गमन नहीं करते,—सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्ग में गमन है;—जो उसमें गमन (परिणमन) नहीं करते, उन्हें मोक्षपद दूर है और संसार निकट है... सम्यग्दर्शनादि की आराधना के बिना अन्य चाहे जितना करे, तथापि वह संसार का संसार में ही रहेगा; उसका एक भी भव कम नहीं होगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मार्ग पर चले बिना भववन से निकलने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र—इन तीनों में आत्मस्वभाव निकट है। जो स्वभाव के समीप जाकर रत्नत्रय की आराधना द्वारा मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते और राग से धर्म मानकर राग को ही निकट लाते हैं, ऐसे जीवों को मोक्ष बहुत दूर है और संसार अति दीर्घ है।

स्वभाव से दूर और राग के समीप वर्तते हुए उन जीवों को मोक्ष की झलक भी नहीं मिलती; इसलिये मोक्ष उन्हें बहुत दूर है। तथा जो जीव, राग को और स्वभाव को भिन्न-भिन्न जानते हैं; राग को मोक्षमार्ग नहीं मानते, तथा चिदानन्दस्वभाव के समीप जाकर—अंतर्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में गमन करते हैं, उन्हें मोक्ष अत्यन्त निकट है और संसार का अंत आने की तैयारी है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी मोक्षमार्ग पर चलनेवाला है और मोक्ष उसे निकट वर्तता है।—इसप्रकार रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है, इसलिये रत्नत्रयमार्ग की आराधना का उपदेश दिया है॥३॥

* * *

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय, वह धर्म है, ऐसा धर्म का सामान्यस्वरूप कहा, अब, उस रत्नत्रय धर्म की आराधना पूर्णरूप से मुनि को तथा अंशरूप से गृहस्थ को होती है—ऐसा बतलाने के लिये उसके दो भेद कहते हैं:—

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्यो भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थितिः॥४॥

जो रत्नत्रयरूप धर्म है, वह सर्वदेशरूप और एकदेशरूप ऐसे दो प्रकार का है; उसमें सम्पूर्ण रत्नत्रयधर्म का पालन तो निर्ग्रन्थ मुनियों को होता है और एकदेशरूप रत्नत्रयधर्म का पालन गृहस्थ-श्रावकों को होता है। उसमें से एकदेश रत्नत्रय का पालन करनेवाला धर्मात्मा-श्रावक कैसा होता है, उसका वर्णन इस ''उपासक-संस्कार'' नामक अधिकार में करेंगे।

अहो, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त चारित्रदशारूप मुनिपना हो, वह तो धन्य दशा है, उसका तो पंच परमेष्ठी पद में समावेश होता है और सम्यग्दर्शनसहित श्रावक को भी धन्य एवं प्रशंसनीय कहा है। मुनि या श्रावक के लिये धर्म का स्वरूप तो कहीं दो प्रकार नहीं है, किन्तु उसकी आराधना में तीव्रता और मंदता की अपेक्षा से मुनिपना और श्रावकपना ऐसे दो भेद हैं। जिनको रत्नत्रयरूप धर्म सर्वदेश है, वे तो मुनि हैं और जिन्हें एकदेश है, वे श्रावक हैं। मुनि को सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपरान्त चारित्रदशा का वीतरागभाव विशेष प्रमाण में प्रगट हुआ है, किन्तु श्रावक को उतना वीतरागभाव प्रगट नहीं हुआ है;—इसप्रकार चारित्र की अपेक्षा से दोनों में फेर है; किन्तु उससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रावक को जो राग है, वह धर्म है। श्रावक को भी जो राग है, वह धर्म नहीं है, किन्तु सम्यक् श्रद्धा-सम्यग्ज्ञान तथा जितने अंश में वीतरागभाव है,

वही धर्म है। जैसा सम्यग्दर्शन, मुनियों को होता है, वैसा ही श्रावकों को भी होता है; उनके सम्यग्दर्शन धर्म में अंतर नहीं है। धर्मात्मा गृहस्थ को व्यापार-धंधा, घरबार, स्त्री आदि का संयोग तथा उस प्रकार का राग होता है, तथापि धर्मी के अंतर में उसकी रुचि नहीं है। अंतर में संयोग से भिन्न और राग से भिन्न चैतन्यद्रव्य का भान वर्तता है तो वह मोक्षमार्ग में स्थित है। इसलिये ''गृहस्थ को धर्म कैसे होगा ?—त्यागी होने के बाद ही धर्म होता है''—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। गृहस्थ को वह अधर्मी ही होता है—ऐसा नहीं है; गृहस्थदशा में भी चैतन्य की प्रतीति करनेवाले एकावतारी धर्मात्मा होते हैं। और घरबार छोड़कर त्यागी हो गया, इसलिये वह धर्मात्मा बन गया—ऐसा भी नहीं है; जिसके अंतर में चैतन्य की प्रतीति नहीं है और राग में धर्म मानता है, वह भले ही बाह्य में त्यागी होकर व्रतादि का पालन करता हो, तथापि वह धर्मी नहीं है किन्तु अधर्मी ही है। इसलिये गृहस्थों को भी सम्यग्दर्शनादि धर्म का यथार्थस्वरूप जानकर उसकी आराधना करनी चाहिये। मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक (भले ही तिर्यंच हो तथापि) सर्वार्थसिद्धि के इन्द्रों की अपेक्षा उच्चदशावाला है, उसका आत्मवैभव तथा आत्मशुद्धि इन्द्र से भी अधिक है। सर्वार्थसिद्धि के देव को चौथा गुणस्थान है और इस श्रावक को पाँचवाँ है, इसलिये देव की अपेक्षा वह पूज्य है। पाँचवें गुणस्थान में परिणाम की इतनी शुद्धता हो गयी है कि—अपयश, अनादेक और दुर्भाग्य—इन तीन प्रकृतियों का उसे उदय नहीं है। क्या बाह्य में कोई उसकी निन्दा—अपयश या अनादर नहीं करता होगा ? बाह्य में निन्दा करे तो भले करो, किन्तु वह तो अपने आत्मा की प्रशंसा—आराधना ही कर रहा है; इसलिये उसे अपयश आदि प्रकृति का उदय है ही नहीं। देखो, यह धर्मात्मा श्रावक की दशा!

ऐसी दशावाले धर्मात्मा-श्रावक के आचार कैसे होते हैं—उसका यह वर्णन है। जिसप्रकार रत्नत्रय के साधक मुनिवरों को छट्ठे गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुण आदि भाव होते हैं, ऐसी ही उनके राग की मर्यादा है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक को भी चौथे-पाँचवें गुणस्थान में देव-गुरु की उपासना, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप और दानादि के शुभभाव प्रतिदिन होते है। मुनि और श्रावक दोनों को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो है; उसमें तो उनकी समानता है, किन्तु चारित्र में सर्वदेश तथा एकदेश—ऐसे भेद हैं। सम्यग्दर्शन में सर्वदेश और एकदेश के भेद नहीं होते। जैसी गणधरदेव की प्रतीति है, वैसी ही चौथे गुणस्थानवर्ती गृहस्थ की प्रतीति है;

सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और सिद्धभगवान को सम्यग्दर्शन की प्रतीति में अंतर नहीं है, दोनों ने एक ही ध्येय प्रतीति में लिया है। ऐसा सम्यग्दर्शन, वह धर्म की नींव है। मुनि हो अथवा श्रावक को,—दोनों को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो होता ही है, इसलिये सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन की आराधना करने का प्रधान उपदेश है।

प्रश्न—''पुरुषार्थ सिद्धयुपाय'' में तो ऐसा कहा है कि प्रथम मुनिधर्म का उपदेश देना और यदि मुनिधर्म की शक्ति न हो तो श्रावकधर्म का उपदेश देना ?

उत्तर—वह बात ठीक है। वह बात सम्यग्दृष्टि जीवों के लिये है; परन्तु अभी जिसके सम्यग्दर्शन का ही ठिकाना न हो, उसे तो मुनिपना या श्रावकपना कैसा ? सम्यग्दर्शन के बिना तो मुनिधर्म या श्रावकधर्म होता ही नहीं। इसलिये जिसे सम्यग्दर्शन न हो, उसे सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का ही उपदेश देना योग्य है। जो जीव सम्यग्दृष्टि हो और चढ़ते हुए परिणामों से आगे बढ़ना चाहता हो, उसके लिये ''पुरुषार्थ सिद्धयुपाय'' में पहले मुनिधर्म का उपदेश देने को कहा है; और यदि उसकी शक्ति मंद हो तो श्रावकधर्म का (एकदेश व्रत का) उपदेश देना—ऐसा कहा है। परन्तु जिसके अभी श्रद्धाज्ञान का ठिकाना नहीं है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को भी सीधा मुनिपना दे देना चाहिये—ऐसा नहीं कहा है। सर्वप्रथम आराधना सम्यग्दर्शन की है; उसके पश्चात् अपने परिणामों को शक्ति देखकर मुनिपना या श्रावकपना धारण करे। जैनशासन की ऐसी परिपाटी है कि—पहले मिथ्यात्व का महान पाप छूटता है और फिर अव्रतादि के पाप छूटते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही मुनिपना या श्रावकपना होता है ॥४॥

* * *

धर्मात्मा गृहस्थ भी धर्म के हेतु हैं—ऐसा अब कहते हैं—

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेनैतेऽपि च गणयन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥५॥

साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर या केवली भगवंत तो इस काल यहाँ विचरते नहीं हैं; इस काल तो रत्नत्रयात्मक धर्म की प्रवृत्ति मुनियों तथा श्रावकों द्वारा ही होती है; इसलिये गृहस्थ भी धर्म के हेतु माने गये हैं। धर्मात्मा श्रावक अपने सम्यग्दर्शनादि धर्म को सम्हालकर, मुनियों को आहारदानादि द्वारा रत्नत्रयधर्म को टिका रखने में साधनभूत होते हैं, इसलिये उपचार से उन्हें मुनिधर्म टिकने का हेतु भी कहा जाता है। शास्त्रकार तो ऐसा भी कहते हैं कि—जिस शरीर में

रहकर मुनि रत्नत्रयधर्म का साधन करते हैं, उस शरीर की स्थिति आहार से रहती है, इसलिये जिन्होंने मुनियों को आहारदान दिया उन्होंने रत्नधर्म को टिकाया है और आहारदान देनेवाले श्रावक को भी मोक्षमार्ग की अनुमोदना का भाव है कि अहा! यह मुनिवर मोक्षमार्ग की साधना कर रहे हैं, ऐसा मोक्षमार्ग जगत् में सदैव बना रहे! इसलिये उस श्रावक ने मोक्षमार्ग को टिकाया, ऐसा कहा है।

मोक्षमार्ग तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही टिकता है; वह कहीं शरीर या आहारादि निमित्त के आश्रय से नहीं टिकता। श्रावक को भी उसका भान है; किन्तु श्रावक के आचार बतलाने के लिये उपचार से ऐसा भी कहा जाता है कि जिसने मुनि को आहार दिया, उसने मोक्षमार्ग को टिका रखा है। दोनों पक्ष भलीभाँति लक्ष में रखकर यथावत् समझना चाहिये।

देवपूजा और दानादि को तो श्रावक के दैनिक कर्तव्यों में गिना है। भोजन के समय धर्मात्मा को प्रतिदिन ऐसी भावना होती है कि—अरे, कोई मोक्ष के साधक मुनिराज मेरे आँगन में पधारें तो उन्हें आहार देकर फिर मैं भोजन करूँ। किन्हीं मुनिराज-धर्मात्मा को आहर दूँ तो मेरा जन्म सफल हो जाये! मैं स्वयं मुनि होकर करपात्री बनूँ, उस धन्य अवसर की तो क्या बात है! परन्तु मुनि होने से पूर्व अन्य मुनिवरों के हाथ में मैं भक्तिपूर्वक आहार रखूँ, वह मेरे हाथों की सफलता है।—इसप्रकार प्रतिदिन श्रावक को मुनियों का स्मरण करके भावना भाना चाहिये। यहाँ मुख्यरूप से मुनियों के आहारदान की बात कही है; किन्तु इसमें शास्त्रदानादि का तथा अन्य साधर्मी-धर्मात्मा-श्रावकों के प्रति वात्सल्यपूर्वक आहारदानादि का भाव भी आ जाता है। श्रावक होने से पूर्व तथा सम्यग्दर्शन होने के पूर्व धर्म की जिज्ञासु को भी ऐसे भाव आते हैं—ऐसा समझ लेना चाहिए॥५॥

पुनश्च, कहते हैं कि जिनमंदिरादि धर्म प्रवृत्ति का मूलकारण श्रावक ही हैं:—

सम्प्रत्यत्र कलौकाले जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्॥६॥

इस वर्तमान कलिकाल में धर्मात्मा श्रावक धर्म का मूलकारण है; वे धर्मी गृहस्थ जिनमन्दिर बनवाते हैं, जिनमन्दिर हो, वहाँ मुनि आकर ठहरते हैं, तथा मुनियों को आहारदान देकर श्रावक उन्हें धर्मसाधन में स्थित करते हैं; इसप्रकार वीतरागी देव-गुरु के भक्त श्रावक भी निमित्तरूप से धर्म का कारण हैं। अपने में भी वे श्रावक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना द्वारा धर्म की

स्थिति करते हैं और निमित्तरूप से बाह्य में भी धर्म की स्थिति का कारण हैं; इसलिये ऐसे श्रावक भी प्रशंसनीय हैं।

'देशव्रतोद्यातन' की २०वीं गाथा में कहते हैं कि—गुणवतांस्युः श्रावकाः सम्मताः अर्थात् गुणवान मनुष्यों द्वारा वे धर्मात्मा श्रावक संमत हैं—आदरणीय हैं—प्रशंसनीय है। क्योंकि जहाँ श्रावक लोग रहते हैं, वहाँ जिनमन्दिर होते हैं; जहाँ जिनमन्दिर होते हैं, वहाँ मुनिवर निवास करते हैं तथा वहाँ धर्म की प्रवृत्ति रहती है; जिससे प्राणियों के पापसंचय का नाश होता है और स्वर्ग-मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है। इसलिये गुणवान मनुष्यों द्वारा धर्मात्माश्रावक अवश्य आदरणीय हैं, संमत हैं, सज्जनों को अवश्य ही उनका आदर-सत्कार करना चाहिए। *(...क्रमशः)*

तीन प्रकार के ईश्वर

प्रत्येक जीव और अजीवद्रव्य अपनी अनंत शक्तिवान होने से स्वतंत्र हैं—ईश्वर है।

(१) स्वभावेश्वर—प्रत्येक जीव अपने नित्य द्रव्यस्वभाव से परिपूर्ण शक्ति संपन्न है और साक्षात् पूर्ण पवित्र निर्मल मुक्तदशा जिसने प्रगट की है, वह प्रगट परमात्मदशा के रूप में स्वभावेश्वर है—जैसे मुक्तसिद्ध परमात्मा—

(२) विभावेश्वर—संसारदशा में शक्तिरूप पूर्ण ऐश्वर्य होने पर भी वर्तमान दशा में राग-द्वेष-अज्ञानरूप योग्यता स्वतंत्र रहकर करनेवाला है, वह विभाव के स्वामी अर्थात् ईश्वर हैं।

(३) जड़ेश्वर—प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र निजशक्ति से पलटता रहता है। एक समय में अपनी शक्ति से शीत पलटकर उष्ण हो जाये—सफेदपना बदलकर काला हो जाये और गमन करने में एक समय में चौदह राजू अर्थात् असंख्य कोटि योजन गमन कर सकता है, ऐसी क्रियावतीशक्ति प्रत्येक परमाणु में स्वतंत्र है, उसे जीव के सहारे की या ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। परमाणु स्थूल पिंडरूप हो या अलग हो परंतु अपनी स्वतंत्र शक्ति से परिणमित होते हैं, इसलिये जड़ेश्वर है—ऐसा समझकर पर में कर्तापन की पराधीनबुद्धि छोड़कर स्वाधीनता की बुद्धि से स्व-पर को जानना चाहिये—जब स्व-पर स्वरूप का भेदविज्ञान होता है, तब अपने त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव की महिमा-रुचि और स्वानुभूति होती हैं; अपना शुद्ध स्वभाव का स्वामी स्वभावेश्वर बनता है।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

(अंक २०४ से आगे)

बारंबार आत्मस्वरूप की चर्चा-भावना करने को कहा; वहाँ बहिरात्मा अज्ञानी प्रश्न करता है कि—प्रभो! इस शरीर और वचन से पृथक् आत्मा तो हमें दिखाई नहीं देता, तो उसकी भावना किसप्रकार करें? हमें तो वही आत्मा मालूम होता है, जो इस शरीर को चलाये और वाणी बोले। शरीर और वाणी से पृथक् तो आत्मा का अस्तित्व दिखाई नहीं देता, तो फिर आत्मा की भावना करने का कथन किसप्रकार योग्य है? अज्ञानी की इस शंका का निराकरण करते हुए श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि:—

शरीरे वाचि चात्मानं, सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं, पृथगेषां बिबुध्यते॥५४॥

वचन और शरीर के स्वरूप में जिसे भ्रांति है, अर्थात् वचन और शरीर तो जड़-पुद्गल हैं—ऐसा जो नहीं जानता, वह बहिरात्मा ही शरीर और वचन में आत्मा का आरोप करता है, अर्थात् मैं ही शरीर और वचन हूँ, मैं ही उनका कर्ता हूँ—ऐसा वह अज्ञानी मानता है; इसलिये देहादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना वह नहीं भाता। किंतु भ्रांतिरहित ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा तो वचन और शरीर को जड़-अचेतन मानते हैं और अपने आत्मा को उनसे भिन्न जानकर निरंतर उसी की भावना भाते हैं। जड़-चेतन के भेदज्ञानपूर्वक आत्मभावना भायी जाती है। जिसे भेदज्ञान नहीं, उसे सच्ची आत्मभावना नहीं होती।

इच्छानुसार शरीर-वचन की क्रिया हो, वहाँ अज्ञानी को ऐसी भ्रांति हो जाती है कि—यह क्रियाएँ मेरी ही हैं; शरीरादि जड़ की क्रिया से भिन्न अपना अस्तित्व उसे भासित ही नहीं होता; और

ज्ञानी तो जड़-चेतन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा दोनों को अत्यंत भिन्न जानते हैं और आत्मा को शरीरादि से अत्यंत भिन्न जानकर उसी की भावना भाते हैं। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य वस्तु को वे अपने लिये हितकारी नहीं मानते। अज्ञानी तो शरीरादि को ही आत्मा मानता है; इसलिये बाह्य विषयों को अपना उपकारी मानता है, इसीलिये शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना वह नहीं भाता। ज्ञानी निरंतर देहादि से भिन्न आत्मा की भावना भाते हैं।

अज्ञानी जीव, जड़-चेतन को एक-दूसरे में मिला देता है, आत्मा से विलक्षण ऐसी जो मूर्त-पुद्गलों की शरीर-रचना-वचन आदि, उन्हें वह आत्मा का ही मानता है; किंतु आत्मा तो पुद्गल से भिन्न लक्षणवान चैतन्यस्वरूप है, उसका ज्ञान वह नहीं करता; इसलिये जड़ में ही आत्मपने की भ्रांति के कारण उसे भिन्न आत्मा की भावना नहीं होती। ज्ञानी विलक्षण द्वारा जड़-चेतन को भिन्न-भिन्न जानता है; शरीर-वाणी आदि जड़ की क्रिया उसे स्वप्न में भी भासित नहीं होती, चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही वह अपना समझता है। चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में उसे अपनेपन की भ्रांति स्वप्न में भी नहीं होती, इसलिये पर्याय-पर्याय में, क्षण-क्षण में तथा प्रत्येक कार्य में उसे भिन्न आत्मा की भावना वर्तती ही रहती है। वह भावना कहीं बार-बार रटने से नहीं होती, किंतु अंतर में जो भेदज्ञान परिणमित हो गया है, उस भेदज्ञान के बल से सहजरूप से भिन्नत्व की भावना सदैव वर्तती ही रहती है; उस भेदज्ञान के अभ्यास के बल से वैराग्य एवं चारित्रदशा प्रगट करके वह ज्ञानी, अल्प काल में शरीर से अत्यंत भिन्न ऐसी चारित्रदशा को साधता है ॥५४॥

* * *

आत्म स्वरूप को न जाननेवाला तथा शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मभ्रांति से वर्तनेवाला अज्ञानी जीव, उन बाह्य पदार्थों को हितकारी मानकर उनमें आसक्त-चित्त रहता है; परंतु जिन पदार्थों में आसक्त होकर उन्हें हितकार मानता है, वे कोई पदार्थ उसके लिये हितकर या उपकारी नहीं हैं—ऐसा अगली गाथा में बतलाते हैं:—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञान भावनात्॥५५॥

पाँच इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जो आत्मा के लिये क्षेमकर हो; तथापि बहिरात्मा अज्ञानी जीव, अज्ञान-भावना के कारण उन्हीं में रमण करता है। जिसप्रकार

बालक, हित-अहित के विवेक बिना चाहे जिस पदार्थ में खेलने लगता है, उसीप्रकार बालक जैसा अज्ञानी बहिरात्मा, हित-अहित के विवेक बिना स्व-पर का भान न होने से बाह्य इन्द्रिय विषयों में सुख मानकर उनमें खेलता है-रमण करता है, किंतु **जगत में ऐसा कोई इन्द्रिय विषय नहीं है, जो आत्मा को सुख प्रदान करे। तत्त्वदृष्टि से देखने पर इन्द्रियसुख तो सुख है ही नहीं; दुःख ही है क्योंकि वह बंध का कारण है, आकुलता उत्पन्न करनेवाला है, विषम है, क्षणभंगुर है, पराधीन है, विघ्नसहित है। सुख तो उसे कहते हैं जो आत्माधीन हो—स्वाधीन हो, निराकुल हो, शांत हो, बंधनरहित हो, जिसमें अन्य पदार्थों की अपेक्षा न हो—ऐसे सुख को अज्ञानी नहीं जानता** और मृगजल समान बाह्य विषयों में सुख की आशा से अनंत काल तक भटकता है। भाई! उनमें कहीं तेरा सुख नहीं है और न वे कोई पदार्थ तुझे सुख देने में समर्थ ही हैं; क्षेमकर तथा सुखदाता तो तेरा आत्मा ही है; इसलिये पर से भिन्न आत्मा को जानकर भेदज्ञान द्वारा दिन-रात उसी की भावना कर। अज्ञानी जीव, अज्ञान-भावना के कारण दिन-रात बाह्य पदार्थों की प्राप्ति का रटन कर रहा है, परंतु परद्रव्य कभी अंशमात्र भी आत्मा के नहीं होते; इसलिये उसे मात्र आकुलता और दुःख का ही वेदन होता है। यदि स्वद्रव्य को पर से भिन्न जानकर स्वरूप की प्राप्ति के प्रयत्न में लगे तो अंतर्मुहूर्त में उसकी प्राप्ति हो जाये, अर्थात् निराकुल सुख का अनुभव हो। यहाँ बहिरात्मा की प्रवृत्ति बतलाकर, उसे छोड़ने का उपदेश है, तथा अंतरात्मा की प्रवृत्ति बतलाकर, उसे प्रगट करने का उपदेश है॥५५॥

[वीर संवत् २४८२; अषाढ़ शुक्ला ११ बुधवार]

('समाधिशतक', गाथा ५६)

अनादि काल से आत्मा के स्वरूप को जाने बिना अज्ञानी जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है; उसमें एक क्षण भी उसने समाधि प्राप्त नहीं की। सम्यग्दर्शन वह प्रथम समाधि है, वह कभी एक क्षण प्राप्त नहीं किया। अनादि काल से मिथ्यात्व-संस्कारों के कारण बहिरात्मा की दशा कैसी हुई है, सो बतलाते हैं—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥५६॥

शरीर को ही आत्मा मानकर, यह मूढ़ अज्ञानी जीव, मिथ्यात्वरूपी अंधकार के कारण अनादि काल से निगोद तथा नरकादि कुयोनियों में सुषुप्त है—मूर्च्छित हो रहा है—ज्ञानशक्ति का

घात हो जाने से जड़ जैसा हो गया है; जो आत्मा का स्वरूप नहीं है—ऐसे अनात्मभूत शरीर-स्त्री-पुत्रादि में 'यह मेरे हैं और मैं वही हूँ'—इसप्रकार जागृति करता है, किंतु चैतन्यतत्त्व में जागृति नहीं करता; वहाँ तो मूढ़ होकर सुप्त है। जड़ पदार्थों को अपना मानकर तथा अपने को जड़रूप मानकर संसार में परिभ्रमण करता है। ऐसे अज्ञानभाव के कारण बहिरात्मा जीव ने इस संसार में मिथ्यादृष्टि के योग्य एक भी भव शेष नहीं रखा; चारों गति में अनंत बार जन्म धारण कर चुका है। शरीर को अपना मानकर शरीर ही धारण किये हैं।

निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के अवतारों में तो मूढ़ जीव ऐसा सुषुप्त था और विचार शक्ति ही न थी कि—'मैं कौन हूँ?' कभी अनंत काल में पंचेन्द्रिय-संज्ञी हुआ और ज्ञान में विचारशक्ति जागृत हुई, तब भी मूढ़ता के कारण अनात्मभूत ऐसे शरीरादि को ही अपनारूप मानता है, किंतु शरीरादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व हूँ—ऐसा नहीं जानता। अपने वास्तविक स्वरूप के अतिरिक्त कहीं अंयत्र आत्मबुद्धि करके जीव, संसार में भटका है। अंतर में ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की दृष्टि के बिना, राग को ही अपना वेदन मानकर, कभी ग्यारह अंग तथा नवपूर्व तक के ज्ञान का विकास हुआ, तब भी उसने रागादिरूप अनात्मभाव को ही आत्मा माना, किंतु आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना। उसने ज्ञान का विषय आत्मा नहीं, किंतु अनात्मा ही है।

चैतन्यस्वरूप को लक्ष में लेकर उसमें एकता किये बिना, ज्ञान के विकास को जो परविषयों में ही लगाता है, उसके ज्ञान का विषय अनात्मा ही है; आत्म-विषय में तो वह सो रहा है; आत्मा को जानने के लिये ज्ञान की जागृति उसे नहीं हुई है। अरे प्रभु! अनंत काल में तूने कभी अपने आत्मा को नहीं जाना और अनात्मा को ही ज्ञान का विषय बनाकर उसी को तूने आत्मभूत माना है। जिसकी आत्मा के साथ एकता न हो, वह अनात्मा है। अज्ञानी कहता है कि शुभराग से—पुण्य से धर्म होता है; यहाँ कहते हैं कि शुभराग या पुण्य तो अनात्मा है। हे जीव! तूने अनात्मा को ही आत्मा मान-मानकर अनंत संसार की कुयोनियों में इतने दुःख सहन किये हैं कि उन्हें सर्वज्ञ भगवान ही जानते हैं, उन दुःखों का वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। भगवान ने वे जाने और तूने सहे... किसी कर्म के कारण नहीं, किंतु अपनी मूढ़ता से ही तूने अनात्मा को आत्मा मानकर ऐसे घोर दुःख उठाये हैं। एकबार संयोगबुद्धि छोड़, शरीर और राग से पार चैतन्यस्वभाव को लक्ष में ले तो तुझे अपूर्व सुख हो और तेरा अनादिकालीन भवभ्रमण दूर हो जाये।

अनादि काल से अनात्मा को आत्मा मानकर मूर्च्छा से भवभ्रमण कर रहा है, वह असमाधि

है... राग में कहीं भी आत्मा की समाधि नहीं है—शांति नहीं है। शरीरादि से भिन्न मेरा चैतन्यतत्त्व ही मेरे विश्राम का स्थान है और उसके लक्ष से ही मुझे समाधि है।—इसप्रकार हे जीव! एक बार अपने आत्मा को लक्ष में तो ले! जिस स्वरूप को समझे बिना अनादि काल से तूने अनंत दुःख पाये हैं और जिसे समझकर अनंत जीव पूर्ण सुख प्रगट करके परमात्मा हुए हैं, वह क्या वस्तु है? उसे जानने की एक बार जिज्ञासा तो कर। सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में जिसका गुणगान हुआ है, ऐसा तेरा आत्मस्वरूप क्या है... उसे जान ले तो तेरी असमाधि दूर हो और तुझे सम्यग्दर्शन की समाधि हो जाये। जो अचेतन को आत्मा मानता हो, उसे समाधि कहाँ से हो? पर को आत्मा मानकर उसमें राग-द्वेष कर-करके जीव, चौरासी लाख योनि में परिभ्रमण करके महादुःखित हो रहा है॥५६॥

* * *

अरे जीव! शरीरादि अचेतन को आत्मा मानने से तो तूने घोर संसार दुःख सहन किये हैं; इसलिये उन शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि छोड़... शरीर को अचेतनरूप से देख और अपने आत्मा को उससे भिन्न चैतन्यस्वरूप देख—ऐसा अब कहते हैं:—

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वं व्यवस्थितः॥५७॥

हे जीव! तू आत्मस्वरूप में स्थिर होकर आत्मा को चैतन्यस्वरूप देख... और शरीरादि को अचेतन-अनात्मारूप से निरंतर देख... तथा उसीप्रकार अन्य जीवों में भी उनके शरीर को अचेतन जान और आत्मा को चैतन्यस्वरूप देख।

देखो, धर्मी अंतरात्मा इसप्रकार निरंतर जड़-चेतन को भिन्न-भिन्न स्वरूप में ही देखता है। चैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ और शरीरादिक तो जड़ हैं-अचेतन हैं; इसप्रकार निरंतर भिन्न ही देखता है। किसी भी क्षण शरीरादि की क्रिया को अपनी नहीं देखता।

देखो, शरीर को अचेतन देखने को कहा; किंतु किस प्रकार?—शरीर को देखकर, 'यह अचेतन है,'—इसप्रकार मात्र परसन्मुख की बात नहीं है, किंतु आत्मा में स्थित होकर शरीर को अचेतन देख—ऐसा कहा है; अर्थात् आत्मोन्मुख होकर शरीर को भिन्न देखने की बात है।

जहाँ अंतर्मुख होकर अपने को चैतन्यस्वरूप से ही प्रतीति में—अनुभव में लिया, वहाँ शरीरादि को अपने अनुभव से पृथक् जाना... राग को भी भिन्न माना... इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप

आत्मा की ओर ढलकर, उसी को निजरूप देख और उससे बाह्य समस्त पदार्थों को अनात्मारूप से देख। धर्मी का लक्ष जब पर की ओर जाता है, तब वह पर को पररूप ही जानता है, उसमें कहीं आत्मबुद्धि नहीं होती... निरंतर भेदज्ञान वर्त रहा है... आत्मज्ञान की धारा अच्छिन्नरूप से प्रवाहमान हो रही है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—हे जीव! चैतन्योन्मुख होकर तू अपने आत्मा को निरंतर चेतनास्वरूप ही देख। अंतरात्मा तो देखता ही है, किंतु बहिरात्मा को समझाते हैं कि तू भी ऐसा देख... तो तेरी अनादिकालीन बहिरात्मता दूर हो जाये और अंतरात्मता प्रगट हो... अर्थात् दुःखों का अंत होकर समाधि की प्राप्ति हो।

जिसे भेदज्ञान हो गया है—ऐसे धर्मात्मा को तो प्रतिक्षण—सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-बोलते—निरंतर अपना आत्मा शरीरादि से अत्यंत भिन्न ही भासित होता है; शरीरादि को वह सदैव जड़रूप ही देखता है.... राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, उन्हें भी अनात्मारूप से देखता है और अपने को उनसे निरंतर भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही देखता है... आत्मा-अनात्मा का जो भेदज्ञान हुआ, उस भेदज्ञान की भावना तथा जागृति ज्ञानी को निरंतर वर्तती ही रहती है।

[वीर संवत् २४८२, अषाढ़ शुक्ला १२ गुरुवार]

मेरा आत्मा तो ज्ञान-आनन्द से भरपूर अरूपी पदार्थ है, यह शरीर मैं नहीं हूँ। जिसप्रकार मकान में रहनेवाला मनुष्य उस मकान से पृथक् है; मकान, वह मनुष्य नहीं है तथा वस्त्र पहिननेवाला वस्त्रों से पृथक् है; उसीप्रकार इस शरीररूपी मकान में स्थित आत्मा शरीर से पृथक् है; शरीर, वह आत्मा नहीं है। मकान गिर जाता है और मनुष्य जीवित रहता है; वस्त्र फट जाता है और पहिननेवाला बना रहता है; उसीप्रकार शरीर नष्ट हो जाता है और आत्मा स्थायी रहता है—ऐसा अरूपी ज्ञानमय आत्मा मैं हूँ। इसप्रकार आत्मा को अंतर में स्थिर होकर देखना और शरीरादि को अपने से भिन्न मानना। शरीर मैं नहीं हूँ—ऐसा सामान्यरूप से विचार करे, किंतु आत्मा का यथार्थ स्वरूप क्या है, उसे यदि न जाने तो सचमुच उसने शरीर से भिन्न आत्मा नहीं माना। इसलिये यहाँ तो अस्तिसहित नास्ति की बात है, अर्थात् 'मैं ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा है,' इसप्रकार आत्मा को लक्ष में लेने पर शरीरादि में आत्मबुद्धि छूट जाती है। इसप्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को जाने बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि सुख की सत्ता तो आत्मा में है, कहीं शरीर में सुख नहीं है। जहाँ सुख की सत्ता है, उसे जाने बिना कभी सुख प्राप्त नहीं होता; शरीर में से या इन्द्रिय-विषयों में से सुख लेना चाहे तो अनंत काल में भी वह प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें सुख का अस्तित्व है ही नहीं।

हे जीव ! एक बार तू विचार तो कर कि जिस सुख को तू चाहता है, वह है कहाँ ? जो सुख तू प्राप्त करना चाहता है, उसका अस्तित्व है कहाँ ?—जो वस्तु प्राप्त करना चाहता हो, उसका अस्तित्व तो कहीं होना ही चाहिये। उसके अस्तित्व को स्वीकार किये बिना उसे प्राप्त करने की भावना कैसे होगी ? तू सुख प्राप्त करना चाहता है तो 'सुख कहीं है'—यह तो तू स्वीकार कर रहा है; अब यह विचार कर कि वह सुख काहे में है ? दूसरे, तू सुख प्राप्त करना चाहता है, इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान में तुझे सुख नहीं है किंतु दुःख है; तो वह दुःख किस कारण है ?—उसका भी विचार कर। भाई ! तू दुःखी है और सुखी होना चाहता है, तो दुःख क्यों है और सुख कहाँ है—यह बात जानना चाहिये।

प्रथम, तू विचार कर कि सुख कहाँ है ? क्या इस शरीर में सुख है ? शरीर तो अचेतन है, उसमें मेरा सुख नहीं है। इन्द्रिय विषय—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दादि में भी मेरा सुख नहीं है; क्योंकि अनादि काल से मैं उन विषयों में लीन रहा, तथापि मुझे किंचित् सुख प्राप्त नहीं हुआ; इसलिये उन विषयों में मेरा सुख नहीं है। बाह्य विषयों में उन्मुखता से जो राग-द्वेष की वृत्ति होती है, उसमें आकुलता है, इसलिये वह दुःखरूप है, उसमें भी मेरा सुख नहीं है। मेरे सुख की सत्ता किन्हीं बाह्य पदार्थों में नहीं है, मेरा सुख तो मुझमें ही है, सुख तो मेरा स्वभाव ही है। जिसप्रकार मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसीप्रकार सुखस्वरूप भी मेरा आत्मा ही है, मेरे आत्मा में ही सुख की सत्ता है, मेरे आत्मा में ही सुख का अस्तित्व है, मेरा आत्मा ही सुख से परिपूर्ण है। जिसप्रकार कड़वाहट अफीम का स्वभाव है, खट्टापन नींबू का स्वभाव है; उसीप्रकार सुख मेरा स्वभाव ही है। अपने आत्मस्वभावोन्मुख होने से मुझे शांति और सुख का वेदन होता है। अनादि काल से बाह्य विषयों की सन्मुखता से जिस सुख का वेदन कभी नहीं हुआ, उसका वेदन आत्मसन्मुखता से होता है; इसलिये मेरा आत्मा ही सुखस्वरूप है।

इसप्रकार आत्मा में ही सुख है—ऐसा सुख के अस्तित्व का निर्णय करना चाहिये। ऐसा निर्णय करके आत्मस्वभाव में एकाग्र होना ही सुख का उपाय है। जहाँ सुख है, उसमें एकाग्र होना ही सुखी होने का उपाय है। ज्यों-ज्यों आत्मस्वभाव में एकाग्रता होती जाये, त्यों-त्यों सुख बढ़ता जाता है।

उपरोक्तानुसार सुख और उसके उपाय का निर्णय करने से, 'दुःख क्यों है ?'—उसका भी निर्णय हो जाता है; वह इसप्रकार—

मेरे आत्मा में ही सुख होने पर भी, उसे मैंने नहीं जाना और उसमें एकाग्रता नहीं की; आत्मा के सुख को चूककर मैंने शरीरादि बाह्य विषयों में सुख माना और भ्रांति से बाह्य में भटका, इसलिये मैं दु:खी हुआ। इसप्रकार अपनी भ्रांति से ही मैं दु:खी हुआ; किसी दूसरे ने मुझे दु:खी नहीं किया।

इसप्रकार सुख की सत्ता और दु:ख का कारण—उन दोनों को जानकर, अपने चिदानन्द सुखस्वभाव की ओर उन्मुख होने से, शरीरादि में सुख होने की भ्रांति दूर हो जाती है; वह भ्रांति दूर होने से अनादिकालीन दु:ख दूर हो जाता है और आत्मस्वभाव के अतीन्द्रिय सुख का अपूर्व वेदन होता है। यही सुखी होने का उपाय है।

आत्मा और शरीरादि पदार्थों का स्वरूप जैसा है, तदनुसार ज्ञानी-अंतरात्मा जानते हैं। आत्मा तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप है और शरीर तो जड़-अचेतन-अनात्मा है, अजीव है; उस अजीव में सुख-दु:ख या ज्ञान नहीं है; मेरी सत्ता उस अजीव से त्रिकाल भिन्न है।—इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा जो निरंतर अपने आत्मा को शरीर से भिन्न ही देखते हैं ॥५७॥●

सुवर्णपुरी-सोनगढ़ (सौराष्ट्र) समाचार

परम उपकारी पूज्य गुरुदेव श्री सुखशांति से विराजमान हैं, सबेरे मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७ तथा दोपहर में श्री समयसारजी सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में से अनेकांत पर प्रवचन चलते हैं।

तारीख २१-८-६२ समयसार गाथा ४१५ पूर्ण हुई उस दिन श्री कुंदकुंदाचार्य, श्री अमृतचंद्राचार्य आदि आचार्य देव की परम महिमा दिखाकर पूज्य स्वामीजी ने समयसार (शुद्ध आत्मा) और उसकी प्राप्ति के उपाय का अद्‌भुत वर्णन किया था।

इस वर्ष जैनदर्शन शिक्षण वर्ग में हिन्दी भाईयों की संख्या १५० से अधिक थी। इसलिये शिक्षण वर्ग के समय पूज्य गुरुदेव के हिन्दी भाषा में प्रवचन होते थे, रात्रि चर्चा में जिज्ञासुजनों के अनेक प्रश्नों का स्पष्टता से निराकरण किया जाता था। जैनदर्शन शिक्षण वर्ग में उत्तर तथा मध्य भारत से और गुजरात से आनेवाले खास जिज्ञासु श्रोताओं की संख्या २२० उपरांत थी। शिक्षा विभाग में चार वर्ग चलते थे और सभी ने उत्साहपूर्वक अभ्यास किया था। उत्तम वर्ग में कितेक प्रश्न अति विस्तार से शास्त्राधार सहित समझाने में आये थे तथा जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला, जैन तत्त्व मीमांसा पढ़ाने में आये थे, मध्यमवर्ग में—द्रव्य संग्रह तथा जैन सिद्धांत प्रवेशिका। प्रथम वर्ग के दो विभाग थे, उसमें जैन सिद्धांत प्रवेशिका व छहढाला यह विषय पढ़ाने में आये थे।

विद्वानों को धार्मिक पर्व के अवसर में यहाँ से भेजने के लिये बहुत माँग आयीथी, किंतु ५-६ शहरों में भेजने की व्यवस्था हो सकी है।

धर्मलब्धि का अवसर

भेदज्ञान ही धर्मलब्धि का अवसर है; जीव को जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ वह बंधन से विमुख हो जाता है, इसलिये भेदज्ञान से ही बंधन अटक जाता है और धर्म की प्राप्ति होती है।—यह बात पूज्य गुरुदेव ने इस प्रवचन में बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट समझाई है।

[श्री समयसार कर्ता-कर्म अधिकार गाथा ७१-७२ के प्रवचनों से]

जीव चैतन्यस्वरूप है; उस चैतन्यस्वरूप में राग नहीं है; राग करना चैतन्य का स्वभाव नहीं है; किन्तु अज्ञानी ऐसे चैतन्य को भूलकर, अनादि से रागादि परभावों के साथ चैतन्य की एकता मानकर, उस रागादि को ही अपना कर्म बनाता है। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा, कर्ता और रागादिभाव मेरा कर्म, ऐसी अज्ञानभाव की प्रवृत्ति अज्ञानी को अनादि से चली आ रही है, वही बंधन का कारण है। चैतन्यतत्त्व तो अंतर्मुख है और रागादिभाव तो बहिर्मुख हैं, उनमें एकता नहीं है। जब तक चैतन्य की ओर राग की भिन्नता को न जाने, जब तक भेदज्ञानरूप बोधिबीज प्रगट नहीं होता। मैं तो चैतन्य हूँ और रागादिभाव तो चैतन्य से भिन्न हैं, ज्ञान में से राग की उत्पत्ति नहीं है और राग में से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं है—ऐसा भेदज्ञान करे, तब जीव की परिणति राग से हटकर अंतर में चैतन्यस्वभावोन्मुख होती है और तब सम्यग्दर्शनादि धर्म का अपूर्व प्रारम्भ होता है।

जीव को जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ उसे धर्मलब्धि का काल (अवसर) आया है। भेदज्ञान ही धर्मलब्धि है। धर्म करनेवाला जीव काल की ओर देखकर बैठा नहीं रहता, किन्तु अपने स्वभाव में अंतर्मुख होता है और स्वभावोन्मुख होने से पाँचों लब्धियाँ एक साथ आ मिलती हैं। स्वभाव में अंतर्मुख हो और धर्मलब्धि का काल न आये, ऐसा नहीं हो सकता।

प्राथमिक शिष्य को धर्मलब्धि के लिये प्रथम भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। जिसप्रकार जीव और अजीवद्रव्यों में अत्यन्त भिन्नता है, उसीप्रकार चैतन्यभाव और रागादिभावों में भी अत्यन्त भिन्नता हैं; दोनों की जाति ही भिन्न है।—ऐसा अंतर का भेदज्ञान, वह किसी शुभराग

द्वारा नहीं होता, किन्तु चैतन्य के ही अवलम्बन से होता है। भेदज्ञान, वह अंतर की वस्तु है; वह कहीं बाहरी पढ़ाई या शुभराग की वस्तु नहीं हैं।

अमुक शास्त्र पढ़ा हो, तब ऐसा भेदज्ञान होता है अथवा महाव्रतों का पालन करे, उसी को ऐसा भेदज्ञान होता है—ऐसा कोई भेदज्ञान का माप नहीं है। अंतर के वेदन में जिसने चैतन्य को और राग को भिन्न जाना और उपयोग को राग से हटाकर चैतन्योन्मुख किया, वह जीव भेदज्ञानी है; शास्त्रों ने जैसी ज्ञान और राग की भिन्नता बतलाई है, वैसी परिणतिरूप से उस धर्मात्मा का साक्षात् परिणमन हुआ है।

राग से अत्यन्त भिन्नता करना है तो वह राग के अवलम्बन से किस प्रकार होगी ? राग का जिसमें अभाव है, ऐसे चैतन्य के अवलम्बन से ही राग का और ज्ञान का भेदज्ञान होता है। देखो, इसमें निश्चय-व्यवहार का भेदज्ञान भी आ गया। निश्चय तो स्वाश्रित चैतन्यस्वभाव है, उस स्वभाव के आश्रय से भेदज्ञान होता है और व्यवहार तो पराश्रित रागभाव है, उसके आश्रय से भेदज्ञान नहीं होता, उसके आश्रय से तो राग ही होता है। निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो अंतर्मुख परिणति है और व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में तो बहिर्मुख रागपरिणति है। जो जीव ऐसा भेदज्ञान करता है, वही राग के साथ की कर्ताकर्म की अज्ञान प्रवृत्ति से छूटता है। भेदज्ञान होते ही वह अपने चैतन्यस्वभाव के साथ एकता से तथा रागादि के साथ भिन्नता से सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्यरूप परिणमित होता है और बंधन से छूटता है। इसप्रकार भेदज्ञान से ही बंधन का निरोध होता है।

अब पूछते हैं कि ज्ञानमात्र से बंधन किसप्रकार रुकता है ?—उसका उत्तर आचार्यदेव ७२वीं गाथा में देते हैं:—

णादूण आसवाणं असुचिततं च विवरीयभावं च।
दुक्ख कारणं ति य तदो, णियत्तिं कुणदि जीवो॥७२॥

सम्मेदशिखरजी की यात्रा के समय मधुवन में इस गाथा पर प्रवचन हुआ था। आत्मा का चैतन्यस्वभाव पवित्र है, सुखरूप है और रागादि आस्रव, चैतन्यरहित हैं, अशुचिरूप हैं तथा दु:ख उत्पन्न करनेवाले हैं। इसप्रकार आस्रवों की चैतन्यस्वभाव से विपरीतता जानकर भेदज्ञानी जीव उनसे विमुख होता है।—इसप्रकार भेदज्ञान से बन्धन अटक जाता है।

आत्मा अबंधस्वभावी है, उसका चैतन्यस्वभाव है और वह बंधभाव से रहित है। जहाँ ऐसे अबंध चैतन्यस्वभाव का भान हुआ, वहाँ आत्मा बंधन से छूट जाता है। अहो! यह भेदज्ञान की

महिमा है कि भेदज्ञान होने के पश्चात् आत्मा बंधभाव से पृथक् ही रहता है। आस्रव तो पानी की सेवार (काई) की भाँति मलिनरूप से अनुभव में आते हैं और भगवान आत्मा सदैव निर्मल-अनिर्मल चैतन्यस्वभावरूप से अनुभव में आता है, इसलिये वह पवित्र है। इसप्रकार अपवित्र ऐसे आस्रव और पवित्र ऐसा चैतन्य भगवान—उनमें भिन्नता है। देखो, शुभराग हो, वह भी चैतन्यरूप से अनुभव में नहीं आता किन्तु मलिन आस्रवरूप से ही अनुभव में आता है; तो उस राग से निर्मल धर्म की प्राप्ति कैसे होगी? और शुभराग करते-करते धर्म होगा - ऐसा जो मानता है, वह राग से विमुख कैसे होगा?—वह राग से चैतन्य की भिन्नता कैसे मानेगा? ऐसे जीव को आस्रव का निरोध नहीं हो सकता। भेदज्ञान अर्थात् अंतर्मुख हुआ ज्ञान; उसका स्वभाव ही क्रोधादि से पृथक् होने का है। ज्ञान का उपयोग स्वभावोन्मुख होकर उसमें एकता तथा रागादि से भिन्नता न करे—ऐसा नहीं हो सकता; इसलिये आत्मोन्मुख ज्ञान को आस्रवों से निवृत्ति के साथ अविनाभावीपना है।

यहाँ आचार्यदेव अलौकिक रीति से आत्मा आस्रवों का स्पष्ट भेदज्ञान कराते हैं। आत्मा की और आस्रवों को विरुद्धस्वभावपना है; इसलिये उनमें एकता नहीं किन्तु भिन्नता है। आत्मा तो जागृत चैतन्यस्वभावी स्व-पर प्रकाशक है; "मैं चैतन्य हूँ और यह रागादि आस्रव हैं"—इसप्रकार स्व-पर दोनों को जानने का चैतन्य का स्वभाव है और आस्रव (रागादिभाव—व्यवहार के अवलम्बनरूप भाव) तो विपरीत हैं अर्थात जड़स्वभावी हैं, वे स्व को या पर को जानने के स्वभावाले नहीं हैं; इसलिये वास्तव में जड़ हैं, इसलिये वे चैतन्य से अन्य स्वभावाले हैं; वे आस्रव स्वयं अपने को नहीं जानते किन्तु अपने से अन्य ऐसे चैतन्य द्वारा ही वे ज्ञात होने योग्य हैं। देखो, राग से भिन्न हो, तभी राग का सच्चा ज्ञान होता है। राग में एकता करे, उसे राग का भी ज्ञान नहीं होता। चैतन्य है, वह राग से अन्य है; राग तो चैतन्य से विपरीतस्वभावपना है, इसलिये वह चैतन्य से अन्य है और चैतन्यस्वभावी आत्मा तो स्वयं राग के अवलम्बन बिना ही स्व-पर को जाननेवाला चेतक है, वह चैतन्य से अनन्य है।—इसप्रकार आत्मा को और आस्रवों को भिन्नस्वभावपना है;—ऐसे भेदज्ञान से आत्मा का बंधन अटक जाता है। अहा, दृष्टि अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी को मुक्त कहा है। सम्यक्त्वी की दृष्टि में बंधरहित शुद्ध आत्मा ही है; इसलिये दृष्टि-अपेक्षा से उसे बंधन है ही नहीं। जिसप्रकार अन्धकार और प्रकाश में भिन्नता है; उसीप्रकार अंधकार समान आस्रवों में और प्रकाश-समान चैतन्य में अत्यन्त भिन्नता है। जितना पराश्रित व्यवहार है, वह सब आस्रवों में जाता है; वह चैतन्यस्वभाव से भिन्न है; और जो स्वाश्रित निश्चय है—स्वाश्रय से होनेवाली निर्मल

पर्याय है, उसकी चैतन्यस्वभाव के साथ एकता है।—ऐसे भेदज्ञान से जहाँ चैतन्य के साथ एकतारूप तथा रागदि से भिन्नतारूप परिणमन हुआ, वहाँ अब बंधन कहाँ रहेगा? बंधन तो वहाँ होता है, जहाँ आस्रवभाव हों; किन्तु जहाँ आस्रवों से छूटकर चैतन्यस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ बंधन नहीं होता।

देखो, यह भेदज्ञान करना ही मुख्य बात है। भेदज्ञान के बिना किस ओर झुकना और किससे छूटना—उसकी खबर नहीं पड़ती। जो राग को अंतर में साधन मानता है, उसकी वृत्ति आस्रव की ओर है, वह आस्रवों से पृथक् नहीं होता—वह आस्रवों से भिन्न चैतन्य को नहीं जानता। यहाँ आचार्य भगवान अनेकानेक प्रकार से भेदज्ञान कराते हैं। पहले कहा कि—आस्रव, अशुचि—अपवित्र हैं और भगवान आत्मा पवित्र है, इसलिये दोनों भिन्न हैं; फिर ऐसा कहा कि—आस्रव, जड़स्वभावी है और भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी हैं, इसलिये उन दोनों की भिन्नता है। अब ऐसा कहते हैं कि आस्रव तो दुःख के कारण हैं और भगवान आत्मा सुखस्वरूप है, इसलिये उनमें अत्यन्त भिन्नता है।

अरे जीव! ऐसे भेदज्ञान की ऐसी दृढ़ता कर कि तीन काल-तीन लोक में आस्रव का एक अंश भी चैतन्यस्वभावरूप से भासित न हो; ऐसा दृढ़ भेदज्ञान हो तो परिणति अंतरोन्मुख हुए बिना न रहे; और जहाँ परिणति अंतर्मुख हुई, वहाँ पवित्रता प्रगट हुई, स्व-पर प्रकाशकपना प्रगट हुआ, इसलिये दुःख का कारण न रहा। यह भेदज्ञान का कार्य है। अज्ञानी कहता है कि शुभराग, धर्म का साधन होता है अर्थात् आस्रव, सुख का कारण होता है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि आस्रव दुःख के ही कारण हैं। जो दुःख का कारण हो, वह सुख का कारण कैसे सकता है?—नहीं हो सकता। चैतन्यमूर्ति आत्मा शांत-निराकुल है; इसलिये वह कभी दुःख का कारण नहीं होता; चैतन्योन्मुख हो और दुःख बना रहे, ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि चैतन्यभगवान, दुःख का अकारण है। आत्मा कारण होकर रागकार्य को उत्पन्न करे—ऐसा नहीं होता; और राग कारण होकर धर्मरूप कार्य उत्पन्न करे—ऐसा कभी नहीं होता।

भाई, तुझे भगवान होना है न! तो भगवान होने का कारण क्या राग होगा? राग तो भगवान से विरुद्धभाव है, वह भगवान होने का कारण कैसे हो सकता है? राग से पृथक् होकर चैतन्यस्वभावोन्मुख होना ही भगवान होने का कारण है। भगवान चैतन्य तो आनन्द का धाम हैं; उसमें से कभी दुःख की उत्पत्ति नहीं होती; राग में से तो आकुलता और दुःख की उत्पत्ति होती

है, तो वह चैतन्य का स्वभाव कैसे होगा ? अंतरंग वेदन से चैतन्य को और राग को अत्यन्त पृथक कर दे !

निश्चय-व्यवहार के भी सब स्पष्टीकरण इसमें आ जाते हैं। आस्त्रवों से छूटा हुआ भेदज्ञान, वह व्यवहार के आश्रय से भी दूर ही है और भूतार्थस्वभाव के आश्रय की ओर उन्मुख है। यदि भूतार्थस्वभावोन्मुख न हो और व्यवाहर के आश्रय से न छूटे तो उस ज्ञान को भेदज्ञान कहते ही नहीं। व्यवहार के विकल्प का एक अंश भी चैतन्य में नहीं है। विकल्प का एक अंश भी मुझे लाभदायी है—वह मुझे किंचित् भी साधनरूप है—ऐसी बुद्धि जब तक रहे, तब तक विकल्प और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं होता। मैं तो चैतन्य हूँ; चैतन्य में से चैतन्यभाव की ही उत्पत्ति होती है; चैतन्य का आश्रय करके उसे कारण बनाने से निर्मल सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र-सुखरूप कार्य प्रगट होता है।—इस महा सिद्धांत का निश्चय करे तो बाह्य के समस्त कारण-कार्य की मान्यता का चूरा हो जाये तथा स्वाश्रयोन्मुख हुए बिना न रहे।

अनादिकाल से जीव ने अज्ञान के कारण ज्ञान और राग की एकता ही मानी थी; इसलिये राग में लीनतारूप वर्तन करते हुए उसे नवीन कर्मों का बंध होता था; किन्तु जब चैतन्य की सच्ची जिज्ञासा जागृत हुई, तब श्रीगुरु के पास जाकर पूछा कि प्रभो ! यह बंधन कब रुकेगा ? तब श्रीगुरु ने उसे आत्मा और आस्त्रव के भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर भेदज्ञान का स्वरूप समझाया; तदनुसार समझकर भेदज्ञान प्रगट करने पर उस जीव ने रागादि को अपने स्वभाव से विपरीत जाना; इसलिये वह उनसे पृथक् परिणमित हुआ और चैतन्यस्वभाव को ही अपना माना, इसलिये उसमें तन्मय होकर परिणमित हुआ;—ऐसा भेदज्ञानरूप परिणमन होने से आत्मा को अब बंधन नहीं होता। वह बंधभाव से प्रवर्तित ही नहीं होता तो उसे बंधन कैसे होगा ? ऐसा भेदज्ञान होने के पश्चात् साधक ज्ञानी को जो अल्प रागादि हों, वे ज्ञान के ज्ञेयरूप हैं। ज्ञान, राग का कर्ता होकर उसमें वर्तता नहीं है परन्तु उसका ज्ञाता ही रहकर उससे निवर्तन करता है।

देखो, यह ज्ञानी का कर्ताकर्मपना ! ज्ञानी को ज्ञानभाव के साथ ही कर्ताकर्मपना है; राग के साथ उसे कर्ताकर्मपना नहीं है। ज्ञान ही मेरा स्वभाव है—ऐसा निःशंक जानता हुआ ज्ञानी अपने ज्ञानभाव में ही वर्तता है। इसप्रकार ज्ञानभाव में ही वर्तता हुआ वह आत्मा, दुःख का अकारण है तथा आनन्द का ही कारण है। दुःख का कारण जो अज्ञान था, वह तो दूर हो गया है और आत्मा के स्वभाव में तो दुःख है ही नहीं।

पहले अज्ञानदशा में—

''अपने को आप भूल के हैरान हो गया...'' और अब भेदज्ञान होने पर—

''अपने को आप जानके गुणवान हो गया....''

भेदज्ञान होने पर अज्ञान दूर हुआ, ज्ञान में प्रवर्तत तथा आस्रवों से निर्वतन किया; दुःख कारण दूर हुआ और सुख का वेदन प्रगट हो गया;—इन सबका एक ही काल है। आत्मा और आस्रवों को लक्षणभेद से भिन्न-भिन्न जाने, उसी क्षण ज्ञान आस्रवों से विमुख होकर शुद्धज्ञान की ओर ढल जाता हैं। यदि आस्रवों से विमुख न हो तथा उन्हीं में पहले की भाँति प्रवर्तन करे तो ज्ञान ने वास्वत में ज्ञान को आस्रव से भिन्न जाना ही नहीं; और यदि शुद्धज्ञान में न वर्ते तो उस ज्ञान ने शुद्धज्ञान की महिमा जानी ही नहीं; इसलिये वास्तव में भेदज्ञान हुआ ही नहीं। आस्रवों को तभी जाना कहलाता है कि जब ज्ञान उनसे विमुख हो जाये; आत्मा को तभी जाना कहलाता है कि जब ज्ञान उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तन करे। यदि ऐसा न हो, अर्थात् यदि ज्ञान, क्रोध से पृथक् होकर अपने स्वभाव में प्रवर्तन न करे तो वहाँ क्रोध का और ज्ञान का पारमार्थिक भेदज्ञान हुआ ही नहीं है—अज्ञान ही है। जो सच्चा भेदज्ञान है, वह तो नियम से क्रोधादि भावों से भिन्न ही वर्तता है, इसलिये उस ज्ञान से अवश्य कर्मबन्ध रुक जाता है।

देखो, ऐसा जो ज्ञान है, वह सामायिक है, क्योंकि उस ज्ञान के उपयोग में भगवान आत्मा निकट वर्तता है और विषमरूप ऐसे क्रोधादिभावों से वह दूर हुआ है। सम्यग्दर्शन भी सामायिक है, सम्यग्दर्शन भी सामायिक है और सम्यक्चारित्र भी सामायिक है। स्वभाव तथा परभाव को भिन्न जानकर, स्वभाव में प्रवर्तन करना और विषमरूप ऐसे परभावों से विमुख होना, उसका नाम सामायिक है।

चैतन्यस्वभाव की महत्ता और क्रोधादि की अत्यन्त तुच्छता—उसे जो ज्ञान जाने, वह चैतन्य को छोड़कर क्रोधादि में वर्तन क्यों करेाग ? और यदि क्रोधादि में वर्तता है तो उसने क्रोधादि की अपेक्षा चैतन्य की महत्ता स्वीकार की कैसे कही जायेगी ? रागादि परभावों को (व्यवहार को) छाती से लगता है और शुद्ध चैतन्यपरिणतिरूप आत्मव्यवहार में नहीं वर्तता तो उस जीव को व्यवहारमूढ़ अज्ञानी कहा है। प्रवचनसार की ९४वीं गाथा में उसे पर्यायमूढ़—परसमय कहा है; वह परभाव में ही प्रवर्तमान है। जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ धर्मी अपनी निर्मल पर्यायरूप चैतनव्यवहार में ही वर्तता है; चैतन्य की निर्मल परिणति ही चैतन्य का व्यवहार है; रागादि परभावों

में वर्तना यह चैतन्य का व्यवहार नहीं है, वह तो अज्ञानी जीवों की व्यवहार मूढ़ता है। ज्ञान तो उसे कहते हैं जो आस्रवों से निवर्तित हो।

कोई कहे कि—भेदज्ञान तो हो गया है किन्तु ज्ञान अभी आस्रवों से निवृत्त नहीं हुआ; अभी तो आस्रवों में ही ज्यों का त्यों वर्त रहा है।—तो आचार्यदेव उससे कहते हैं कि भाई! तुझे भेदज्ञान हुआ ही नहीं। हम पूछते हैं कि—जिसे तू भेदज्ञान कहता है, वह ज्ञान है या अज्ञान? यदि वह अज्ञान है, तब तो आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से (मिथ्याज्ञान से) उसमें कोई विशेषता नहीं हुई, अर्थात् वह भेदज्ञान नहीं हुआ, किन्तु अज्ञान ही रहा। और यदि वह ज्ञान है तो वह ज्ञान आस्रवों में ही वर्तता है या उनसे निवर्तित हुआ है? आत्मोन्मुख हुआ है या विकार की और ही वर्तता है? यदि आस्रवों में ही वर्तता है तो आत्मा और आस्रवों की एकताबुद्धि से उस ज्ञान में कोई विशेषता नहीं हुई, वह अज्ञान ही रहा। और यदि वह भेदज्ञान आस्रवों से निवर्तित है तथा शुद्धात्मा की ओर उन्मुख हुआ है तो उस ज्ञान से बन्ध का निरोध सिद्ध होता है। इसप्रकार भेदज्ञान से ही बन्धन का निरोध होता है और वह ज्ञान, आस्रवों से निवर्तित ही हैं।—इस प्रकार अकेले ज्ञातृत्वरूप एकान्तज्ञानमय तथा भेदज्ञान रहित मन्दज्ञानरूप क्रियानय—दोनों का खण्डन हुआ।

आत्मा और आस्रव भिन्न हैं—ऐसा विकल्प करता रहे किन्तु आस्रवों से विमुख होकर स्वभावोन्मुख न हो तो उसके ज्ञान को ज्ञान कहते ही नहीं। जिसने ज्ञान की और राग की अनेकता को नहीं जाना किन्तु राग के साथ ज्ञान की एकता मानी है, वह एकान्तज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान है; जिसने राग से भिन्नता और ज्ञान के साथ एकता करके **ज्ञान और राग की अनेकता को जाना, वह अनेकान्त अर्थात् भेदज्ञान है। वह भेदज्ञान आस्रवों से निवर्तित है; उस ज्ञान में आस्रव नहीं है। आस्रवों में आस्रव हैं, किन्तु ज्ञान में आस्रव नहीं हैं;** ज्ञान तो ज्ञान में ही प्रवर्तमान है, ज्ञान आस्रवों में नहीं वर्तता।—ऐसे भेदज्ञानरूप ज्ञान से बंधन का निरोध होता है।

यह कर्ताकर्म अधिकार है; कर्ता और कर्म अभिन्न तथा एक ही जाति के होते हैं। ज्ञायकस्वभावी आत्मा कर्ता है और निर्मल ज्ञानपर्याय प्रगट होकर अभेद हुई, वह उसका कर्म है। इसप्रकार ज्ञान ही आत्मा का कर्म है; परन्तु राग, आत्मा का कर्म नहीं है, क्योंकि ज्ञान में और राग में एकता नहीं है किन्तु भिन्नता है; ज्ञान और राग की एक जाति नहीं किन्तु भिन्न जाति हैं; ज्ञान तो ज्ञान के पक्ष में है और रागादिभाव, अज्ञान के पक्ष में हैं—ऐसा जाननेवाले धर्मी जीव का राग के साथ कर्ताकर्मपना छूट गया है और राग के साथ कर्ताकर्मपना छूट जाने से उसको बन्धन भी रुक जाता है।

जो ज्ञान, राग में ही तन्मयता से वर्तता है, उसे ज्ञान कहते ही नहीं; वह तो अज्ञान ही है : आत्मा और राग भिन्न है—ऐसा शास्त्र से कहता है किन्तु उपयोग को राग के वेदन से पृथक् करके अन्तरोन्मुख नहीं करता तो उसका ज्ञान भी ज्ञान नहीं है—अज्ञान ही है। अकेला शास्त्रज्ञान का विकास या अकेली कषाय की मन्दता—वह कहीं भेदज्ञान का कारण नहीं है। भले ही ग्यारह अंग का जानकार हो या पंच महाव्रत का पालन करे, किन्तु जो ऐसा मानता है कि—यह महाव्रतों का विकल्प मुझे लाभदायी है अथवा शास्त्रों का ज्ञान मेरे आत्मा को भेदज्ञान में सहायक है,—तो वह जीव, राग और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं कर सकता; शास्त्र पढ़कर या व्रतादि का पालन करके भी वह अज्ञान से रागादि आस्रवों में ही वर्त रहा है।

कोई क्रियाजड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई;
माने मारग मोक्ष को, करुणा उपजै जोई।

राग की मन्दता की क्रिया करें और उसी को धर्म मानें, किन्तु उस राग से भिन्न चैतन्य का ज्ञान न करें, वे जीव 'क्रियाजड़' हैं; तथा जो भेदज्ञान की बात करते रहें किन्तु अन्तर में राग की मिठास को न छोड़े—राग परिणति से पराङ्मुख न हों, वे 'शुष्कज्ञानी' हैं। राग होता है, वह अलग बात है, किन्तु ज्ञानी को उसमें रस नहीं होता, उसमें आत्मबुद्धि नहीं होती; ज्ञानी ने अपनी ज्ञानपरिणति को उस राग से पराङ्मुख कर दिया है—पृथक् कर दिया है, इसलिये वास्तव में ज्ञानी राग से पृथक् ही है और उसे बन्धन नहीं होता।

प्रश्न – अविरत सम्यग्दृष्टि को भी राग होता हुआ दिखायी देता है और अमुक प्रकृतियों का बन्ध तो उसे भी होता है, तो उसे ज्ञानी कहें या अज्ञानी ?

उत्तर – भाई, अविरति सम्यग्दृष्टि तो ज्ञानी ही है। राग होने पर भी उसकी अन्तर्दृष्टि अलग है; उसकी दृष्टि में राग का स्वामित्व अंशतः भी नहीं है। ज्ञान में भी **वह राग को और बंधन को अपने चिदानन्दस्वभाव से पृथक् ही जानता है; इसलिये ज्ञानी उस राग का या जड़कर्म का स्वामी नहीं है; वह तो चैतन्य के शुद्धभाव का ही स्वामी है। जो अल्प बन्धन या राग है, उसका कारण कहीं ज्ञान नहीं है। ज्ञानी को जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ, वह तो बन्धन का कारण है ही नहीं। ज्ञान की पंक्ति अलग है और बन्धन की पंक्ति का अलग है। साधक के दोनों धाराएँ भिन्न-भिन्न चली जाती हैं। उनमें से ज्ञानी तो ज्ञानधारा का ही स्वामी है, तथा जो बन्धधारा है, उसे वह अपने स्वभाव से भिन्न ही जानता हुआ उसका स्वामी या कर्ता नहीं होता। इसलिये 'ज्ञानी' को बंधन है ही नहीं।**

आचार्यदेव ज्ञान की महिमा से कहते हैं कि अहो! पर परिणति को छोड़ता और भेद के कथनों को तोड़ता हुआ जो यह प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान उदित हुआ है, उस ज्ञान में अब विभाव के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है और उसे बंधन भी नहीं है। देखो, यह ज्ञान!! अहा, छुटकारे के मार्ग पर चढ़े हुए इस ज्ञान को बंधन कैसे होगा? मतिश्रुत क्षायोपशमिकज्ञान होने पर भी स्वसंवेदन की ओर उन्मुख हुए, वहाँ वे प्रत्यक्ष हैं और उन्हें बंधन नहीं है, उनमें विकार का कर्तृत्व नहीं है। वे ज्ञान, चैतन्य के मध्यबिन्दु से उमड़ें हैं,... अब कोई उन्हें केवलज्ञान प्राप्त करने से नहीं रोक सकता।

ज्ञानमयभाव तो कर्मबंधन में निमित्त भी नहीं है

'धी' को ध्येय की ओर प्रेरित करे वह धीर

[समयसार गाथा १०५ के ऊपर प्रवचन, कार्तिक कृष्णा-७]

इस शरीर में विद्यमान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, उसकी प्रतीति करके और उसमें लीनता से जो सर्वज्ञ हुए हैं, उन्होंने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जैसा जाना, वैसा ही दिव्यध्वनि द्वारा जगत को दर्शाया है। उसे झेलकर संतों ने इन समयसारादि शास्त्रों की रचना की है। आत्मा का वास्तविक कार्य क्या है? रागादि विकार, वह आत्मा का वास्तविक कार्य नहीं है; ज्ञानस्वभाव के आश्रय से होनेवाले जो निर्मल ज्ञानादि परिणाम, वही आत्मा का सच्चा कार्य है। ऐसे सच्चे कार्य को जीव ने पहले कभी नहीं जाना; उसे जाने बिना अनंत बार चार गतियों में अवतार धारण किये हैं। आत्मा का सम्यक्स्वरूप जाने बिना अनंत बार शुभराग द्वारा त्यागी हुआ, व्रतों का पालन किया, किन्तु उस राग को ही निजकर्तव्य मानकर संसार में भटका। राग से पार चैतन्यतत्त्व की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन एक क्षण भी कभी नहीं किया। सम्यग्दर्शनरूपी धर्म अपूर्व वस्तु है; वह कैसे होता है—उसी की यह बात हैं।

यह चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, कर्मबन्धन का निमित्त नहीं है, तथा उस चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान के परिणाम हुए, वह भी कर्मबन्धन का निमित्त नहीं है। उन निर्मलपरिणामों को विकार के साथ भी कर्ता-कर्मपना नहीं है। स्वभावोन्मुख हुआ निर्मलभाव तो मुक्ति का कारण है, कर्मों को नष्ट करने का कारण है; अतः वह भाव, कर्मबन्ध का कारण कैसे होगा? अहा! जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ वह जीव, कर्मबन्ध का निमित्त भी नहीं होता; वह तो ज्ञानभावरूप कार्य ही करता है। सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है?—उसकी महिमा जगत के जीवों को मालूम नहीं... और सम्यग्दर्शन के पश्चात् अंतर में विशेष पुरुषार्थ द्वारा आनन्दोर्मि उठने पर मुनिदशा हो, उसकी तो बात ही क्या!! 'साधु हुआ सो सिद्ध हुआ।' प्रवचनसार में शुद्धोपयोगी मुनि को मोक्षतत्त्व कहा है। ऐसी मुनिदशा से पूर्व सम्यग्दर्शन होता है, वह भी अपूर्व वस्तु है।

दया-दानादि के परिणामों से ज्ञानी की पहिचान नहीं होती, किन्तु ज्ञानी के अंतर में भेदविज्ञान और चैतन्यसमुद्र उछलता है... आनन्द का ज्वार उठता है... उसी के द्वारा ज्ञानी को पहिचाना जाता है। मंदराग के शुभपरिणाम द्वारा चैतन्यसमुद्र में आनन्द का ज्वार नहीं उठता। ऐसे चैतन्य की बात जीव ने अंतर्लक्षपूर्वक कभी नहीं सुनी। भगवान की सभा में गया, तब भी राग में रुक गया, किन्तु अंतर में चैतन्यतत्त्व की बात का स्पर्श नहीं होने दिया; अंतर में चैतन्य की महत्ता भासित नहीं हुई, इसलिये चैतन्य के भान बिना अनंत बार मनुष्यपना व्यर्थ ही गवाँ दिया।

देखो, यहाँ आचार्यदेव आत्मा की प्रभुता बतलाते हैं। चैतन्य के ध्येय से द्रव्य-गुण की प्रभुता पर्याय में भी प्रगट हो जाती है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक अपनी प्रभुता को धर्मी जीव जानते हैं... वे ही सच्चे वीर हैं।

'धीर' उसे कहा जाता है जो ध्येय की ओर 'धी' को प्रेरित करे, अर्थात् चिदानन्द-स्वरूपभाव को ध्येय बनाकर उसमें बुद्धि को लगाये—प्रेरित करे—उन्मुख करे। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा ने अपने उपयोग की बुद्धि को स्वध्येय में लगाया है, इसलिये वे ही सच्चे धीर हैं; जगत की चाहे जैसी अनुकूलता या प्रतिकूलता में भी वे चैतन्यध्येय को नहीं छोड़ते। उनकी बुद्धि चैतन्यध्येय में ही लगी है, इसलिये वे धीर हैं। अज्ञानी शुभराग को ध्येय बनाकर भले ही स्थूल क्रोध न करे, कोई गाली दे, तब भी धैर्य रखे, तथापि वह वास्तव में धीर नहीं है, उसकी बुद्धि चैतन्य के ध्येय से दूर है, इसलिये वह अधीर है—आकुल है। बुद्धि चैतन्यध्येय की ओर उन्मुख न हो, तब तक आकुलता दूर होकर धैर्य नहीं होता। जो 'धी' (बुद्धि) को ध्येय की ओर प्रेरित करे,

उसी को धीर कहा है; चैतन्योन्मुख उपयोग अत्यन्त धीर और अनाकुल हैं; चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी वह नहीं डिगता।

सम्यग्दर्शन तो केवलज्ञान की बारहखड़ी है। जिसप्रकार बारहखड़ी सीखे बिना आगे की पढ़ाई नहीं होती, उसीप्रकार सम्यग्दर्शनरूपी बारहखड़ी के बिना धर्म की पढ़ाई नहीं होती। केवलज्ञानरूपी स्वगृह में प्रवेश करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रवेश द्वार है। भगवान सर्वज्ञ देवों ने केवलज्ञान—केवलदर्शन—अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्यरूप स्वचतुष्टय प्रगट करके असंख्य चैतन्य प्रदेशी स्वगृह में वास किया है, वह सच्चा वास्तु-प्रवेश है। यहाँ आचार्य भगवान वास्तु-प्रवेश करने की विधि बतलाते हैं।

यह चैतन्यस्वभावी आत्मा—कि जिसमें सच्चा प्रवेश करना है—उसमें कर्मरज नहीं है, तथा वह स्वयं कर्मरज के बंधन का कारण भी नहीं है। विकार के निमित्त से कर्म बँधते हैं, उसे देखकर विकार का कर्ता अज्ञानी ऐसा मानता है कि—मैंने यह कर्म बाँधा; किन्तु वास्तव में कर्म का कर्ता वह अज्ञानी भी नहीं है। ज्ञानी को तो मिथ्यात्वादि कर्म के बंधन में निमित्तरूप हो, ऐसा भाव ही छूट गया है।

शरीर स्त्री का हो या पुरुष का; उसके साथ सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध नहीं है। आठ वर्ष की बालिका भी अंतर में चिदानन्दस्वभाव का निर्विकल्प अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकती है। महाविदेह में इससमय सीमंधर परमात्मा आदि तीर्थंकर साक्षात् विराजमान हैं; वहाँ चक्रवर्ती की आठ वर्षीय छोटी-छोटी कुमारिकाएँ भी भगवान की सभा में जाकर धर्म का श्रवण करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करती हैं। श्रेणिक राजा ने आत्मभान प्रगट करके फिर तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया है, किन्तु वहाँ सम्यग्दर्शन के परिणाम उस तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शन के साथ की भूमिका में ही वैसी प्रकृति का बंध हो जाता है, तथापि उस बंधन का कारण सम्यग्दर्शन के परिणाम नहीं है। धर्मी अपने आत्मा को चैतन्यस्वभावमय ही जानता है, तथा यह भी जानता है कि मेरा चैतन्यभाव एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से किसी भी कर्म प्रकृति के बन्धन में निमित्त भी नहीं है।

अरे जीव! ऐसे मनुष्यभव में भी यदि चैतन्य की प्रतीति न की तो इस भवचक्र के चक्कर मिटनेवाले नहीं हैं। मिथ्यात्व के विपरीत भाव से अनंत बार भवचक्र में भ्रमण किया, किन्तु एकबार सम्यक्प्रतीति का भाव प्रगट करे तो अनंतकालीन भवचक्र का अंत आ जाए। श्रीमद्

राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

''बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभदेह मानवनो मल्यो,
तो ये अरे! भवचक्रनो आंटो नहीं अेके टल्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे लेश अे लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो! राची रहो?''

पर में सुख मानने से अपने चैतन्यस्वभाव का सुख भूल जाता है। अरे जीवों! आत्मा को भूलकर राग के तथा पर के कर्तृत्व में रुकने से तो प्रतिक्षण चैतन्य का भयंकर भावमरण होता है, क्षण-क्षण चैतन्य की शक्ति का घात होता है। ऐसे भावमरण में तुम कहाँ लग रहे हों? पर का कर्तृत्व मानने से चैतन्य के भावप्राण की हिंसा होती है। पैसे में से, शरीर में से, बाह्य विषयों में से या शुभराग में से मुझे सुख प्राप्त होगा—ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह जीव चिदानन्दस्वभाव के सहज सुख का घात कर देता है। भाई! अपने चैतन्यतत्त्व में ही तेरा सुख है; उस चैतन्य में परवस्तु का तो स्वामित्व नहीं है और राग का भी स्वामित्व नहीं है।

चैतन्यस्वभाव से भ्रष्ट अज्ञानी ही विकल्प का कर्ता होकर ऐसा मानता है कि मैंने कर्मबंध किया। आत्मा का स्वभाव तो निर्विकल्प विज्ञानघन है, किन्तु अज्ञानी उससे भ्रष्ट होकर राग में ही प्रवृत्त है-विकल्प में ही मूर्छित हो रहा है, वही अज्ञानभाव से कर्म का निमित्त होता है। ज्ञानी तो जानता है कि शुद्ध चैतन्यमय ऐसा मैं, कर्म का कर्ता व्यवहार से भी नहीं हूँ; निमित्त से भी नहीं हूँ। जो निश्चयस्वभाव से भ्रष्ट है, उसे ऐसा व्यवहार लागू होता है कि—'इसने यह कर्म बाँधा;' किन्तु वह भी उपचार ही है, परमार्थ नहीं है। वास्तव में अज्ञानी जीव भी पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा तो चिदानन्द मूर्ति शुद्धात्मा में ही तत्पर है। हम तो अपने ज्ञानपुंज में ही आरूढ़ हैं; राग में—विकल्प में हम आरूढ़ नहीं हैं; उससे तो हम पृथक् हैं। अहा, ज्ञानी का स्वभाव अनोखा है! उन ज्ञानी को कर्म के कर्तापने का उपचार भी लागू नहीं होता। उपादान में जहाँ विकार का कर्तृत्व छूटा, वहाँ कर्म का निमित्तकर्तृत्व भी कैसे होगा? अरे! जहाँ शुद्धता प्रगट हुई, वहाँ कर्म के कर्तृत्व का कलंक कैसे होगा? चैतन्य की आराधना हुई, वहाँ धर्मी ने कर्म के साथ का संबंध तोड़ा और सर्वज्ञस्वभाव के साथ एकता का संबंध जोड़ा। धर्मी कहते हैं कि अहो, भगवान की हमारे ऊपर कृपा हुई, भगवान हम से प्रसन्न हुए! सम्यग्दर्शन में अपने आत्मा की प्रसन्नता हुई, वहाँ भगवान की प्रसन्नता का भी उपचार आया। देखो, ज्ञानी को कर्म के कर्तृत्व का उपचार दूर

हुआ और भगवान की प्रसन्नता का उपचार आया। अज्ञानी तो राग का कर्ता होकर तथा पर का कर्तृत्व मानकर भगवान के मार्ग से भ्रष्ट हुआ है; उस पर वास्तव में भगवान की प्रसन्नता का आरोप भी नहीं होता। चैतन्यस्वभाव से भ्रष्ट ऐसा अज्ञानी ही अपने अशुद्ध उपादान में विकार का कर्ता होता है और उसी को कर्म के कर्तृत्व का व्यवहार लागू पड़ता है। वह व्यवहार भी उपचार ही है; वास्तव में कहीं कर्म का कर्तृत्व उसको नहीं है; मात्र अपने अज्ञानभाव का ही कर्तृत्व है।

श्री समयसारजी शास्त्र के ग्राहकों से क्षमा प्रार्थना

इस ग्रंथ में फोटो लगने की थी, व फोटो छपने में देर होने से अन्य ग्राहक गण को भेज नहीं सके, अब फोटो लगा दी गई है। जैसे-जैसे बाइंडिंग होते जावेंगे, ग्रंथ शीघ्रातिशीघ्र भेज दिये जावेंगे, अभी तक जो विलंब हुआ, उसके लिये ग्राहकगण क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक

विज्ञप्ति

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का लाभ लेने के लिये यहाँ अनेक हिन्दी भाषी यात्री भी आते हैं किंतु उनके लिये यहाँ रहने-उतरने की कोई व्यवस्था नहीं थी; अत: हिन्दी भाषी यात्रियों के लिये एक यात्रिकाश्रम (धर्मशाला) बनवाने का विचार सोनगढ़ स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट ने किया है, उसके लिये एक फंड का प्रारम्भ किया है, उसमें निम्न प्रकार रकम प्राप्त हुई है:—

१००१) श्री बाबूलाल बल्लभदास के मातुश्री, गांव टिमरनी (म.प्र.)
१५००) श्री वाड़ीलाल जगजीवन, कल्लोल (गुजरात)
१००१) श्री कंवरचंदजी ज्ञानचंद शा०, सनावद (म.प्र.)
२००१) श्री मोहनलाल कानजी घीया, राजकोट (सौराष्ट्र)
२१०१) श्री पोपटलाल मोहनलाल वोरा, बम्बई
१००१) श्री गटुलाल बच्छराज, गुना (म.प्र.)
१००१) श्री नेमीचंद शाह जैन, मलकापुर
५०१) श्री रतनलाल श्रीपालजी, दिल्ली
५०१) एक गृहस्थ की ओर से,
२००१) श्री कामाणी ब्रदर्स के भाईयों की ओर से, जमशेदपुर
२५१) श्री छोगमल बालमल, भोपाल
२०१) श्री कन्हैयालाल डालचंदजी, भोपाल
२५१) श्री लालजी चुनीलाल मिस्त्री, विदिशा
२५१) श्री भंवरलाल कन्हैयालालजी, जयपुर
१२५) एक गृहस्थ की ओर से
१०१) श्री शिवप्रसादचंदजी कुमारजी
१०१) श्री जगदीशप्रसादजी, दिल्ली
१०१) धन्नालालजी, ग्वालियर
१०१) श्री कुन्तमल कन्हैयालाल, लश्कर
१०१) श्री शिखरचंदजी आमायन, (लश्कर)

१०१) श्री मिश्रीलालजी चंपालालजी, विदिशा

१०१) श्री सुजानमल मोदी, बड़ी सादड़ी

१०१) श्री कालुराम पन्नालालजी, भोपाल

१०१) श्री पूरनचंद रतनचंदजी, भोपाल

१०१) श्री बाबूलाल प्रेमचंदजी, भोपाल

१०१) श्री मूलचंदजी फूलचंदजी, भोपाल

१०१) श्री राजमलजी मगनलालजी, भोपाल

१०१) श्री पद्मचंदजी बालचंदजी, भोपाल

१०१) श्रीमती रूक्ष्मणी बहिन एडवोकेट, जबलपुर

१०१) श्री मुमुक्षु मंडल झींझवा (गुजरात)

५१) रुपया वाले श्री चंदूलाल सुगनचंद, गुना; श्री केवलचंदजी, राधौगढ़; श्री बालमुकुंदजी, दिल्ली; देवीलालजी, उदयपुर; रूपचंदजी, इंदौर; पुनमचंदजी, इंदौर; चांदमलजी, उज्जैन; प्यारेलालजी बड़जात्या, अजमेर; बाबुभाई फतेपुर; अमीचंदजी टोकर; जेठमलजी जैन बंधु नारायणगढ़; भोगराजजी, भोपाल; मीठुलालजी, भोपाल; गांधी केशवलाल, रखीयाल; नेमचंद उगरचंद रखीयाल; मीठालाल सोनासण; बलवंतराय पद्मचंद, दिल्ली; मणिभाई, जेचंद, दीपचंद, टोकरगाँव; उदयलाल, उदेपुर; शिखरचंदजी जैन, दिल्ली; नेमचंदजी, तलोद; मयाचंद छगनलाल, कलकत्ता। अब २५) के नौ नाम हैं, ३१) के चार, २१) के चार नाम हैं, कुल जोड़ १६८०९) सोलह हजार आठ सो नौ रुपया आया है। (तारीख २७-८-६२ तक)

—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री कुन्दकुन्द-कहान प्रकाशन मन्दिर
व्य० श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल-बम्बई के द्वारा

— नया प्रकाशन —

श्री समयसारजी-परमअध्यात्मशास्त्र

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, संचालित श्री कुन्दकुन्द-कहान प्रकाशन मंदिर ठि० १७३-७५, मुम्बादेवी रोड, बम्बई-२।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो, वह सर्वोत्तम मानी जाती है। जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकान्त, ४९ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचन्द्राचार्य की सर्वोत्तम सं० टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, दूसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुन्दर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें, ऐसी भावनावश इस ग्रन्थाधिराज का मूल्य मात्र ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार।

मंगाने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, उज्जैन, विदिशा, इन्दौर, जयपुर, गुना आदि गाँवों में दि० जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)
नियमसार	५ ॥)
समयसार पृष्ठ ६१६ बड़ा साइज	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।।।)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥।)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ॥)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)
प्रवचनसार	५)
अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)
द्वितीय भाग	२)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)
द्वितीय भाग	॥–)
तृतीय भाग	॥–)
जैन बालपोथी	।)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
छहढाला (नई टीका)	॥ ।–)
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
अपूर्व अवसर प्रवचन और श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	८५ न.पै.
भेदविज्ञानसार	२)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समाधितंत्र	२ ।=)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
स्तोत्रत्रयी	॥)
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
शासन प्रभाव	=)

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।